महाभारत

आदिपर्व

[अध्याय-१-२०]

1540934

इ.पु.५५४

Acc 23334
23334

भूमिका

वैदिक साहित्य एवं संस्कृतिके कारण भारतकी अक्षुण्णता विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं, कि वेदों एवं तद्गत साहित्यके कारण भारतका यश काफी फैला है, पर समयके साथ साथ वेदोंका अध्ययन क्रमशः क्षीण होता गया और एक दिन यह आया कि जब वेद नाममात्रके लिए रह गए और उनका अध्ययन लुप्तप्राय हो गया। ऐसे गाढे समयमें भी भारतीयसंस्कृतिने अपनी अक्षुण्णता टिकाये रखी। इसका कारण था इतिहास और पुराण। इन इतिहासों और पुराणोंने लोगोंको अपनी आकर्षक एवं मनोरञ्जक कथाओं द्वारा फिर वेदोंकी तरफ प्रेरित किया। सर्वथा मूर्ख राजपुत्रोंको अपने "पंचतंत्र" की कथाओंके द्वारा राजनीतिमें कुशल बना देनेवाले विष्णुशर्माकी कथा संस्कृत साहित्यमें प्रसिद्ध ही है। इसी तरह इन इतिहासों और पुराणोंने अपनी कथाओंके द्वारा लोगोंके हृदयोंमें वैदिक सिद्धान्तोंको जागृत किया। इसीलिए इन इतिहास और पुराणको वेदोंके अर्थ करनेके कार्यमें अनिवार्य तत्त्व माना गया है। १

पुराण ग्रंथोंमें सम्पूर्ण प्राचीनतम कथाओंका संग्रह है और इन्हींको आधार बनाकर रामायण, महाभारत आदि इतिहासोंमें अर्वाचीन ऐतिहासिक कथाओंका संग्रह किया गया है। रामायण और महाभारत दोनों महाकाव्य अमूल्य हैं। संग्रहकी दृष्टिसे पुराणोंमें "अग्नि पुराण" तथा इतिहासमें "महाभारत" श्रेष्ठ ग्रंथ हैं।

महाभारत—एक एनसाइक्लोपीडिया

महाभारत वस्तुतः न महाकाव्य है और न इतिहास ग्रंथ, यह तो एक विश्वकोष है; जिसमें तत्कालीन सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्य सभी पहलुओंपर प्रकाश डालनेवाले-सभी विचारोंके दर्शन किए जा सकते हैं। सभी तरहका ज्ञान महाभारतमें मिल सकता है। महाभारतसे पूर्वके ग्रंथोंमें जिन जिन विषयोंका विवेचन किया गया है उन सबका सूक्ष्मदर्शन इस ग्रंथमें किया जा सकता है। स्वयं महर्षि द्वैपायन कहते हैं—

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं त्रिविधं च यत्।
वेदा योगः सविज्ञानो धर्मार्थः काम एव च ॥ ४८ ॥
धर्मार्थकामयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च।
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद्दृष्टवानृषिः ॥ ४९ ॥
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रंथस्य लक्षणम् ॥ ५० ॥ २

सभी प्राणियोंके स्थान, सभी रहस्य, वेद, योगशास्त्र, विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्म, अर्थ और कामके वर्णन करनेवाले ग्रंथोंका सार, इस संसारमें रहकर सुखपूर्वक जीना इन सभी बातोंका वर्णन इस महाग्रंथमें ग्रंथकारने किया है। इस ग्रंथको सांसारिकशास्त्र और मोक्षशास्त्र दोनों कहा जा सकता है। इसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों मार्गोंका अपूर्व वर्णन है। अतः यह एकांगी नहीं है।

१ इतिहासपुराणाभ्यां वेदान् समुपबृंहयेत्।
२ महाभारत आदिपर्व अध्याय १

एसएलसी भन्ने टेलिफिल्म कान्तिपुरमा आउँछ २
त्यसमा हरिवंश एसएलसि

इस अपूर्व ग्रंथमें किन किन विषयोंका वर्णन है, इस विषयमें स्वयं ग्रंथकारका कथन द्रष्टव्य है—

कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम् ।
ब्रह्मन्वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया ।
सांगोपानिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयम् ।
विविधस्य च धर्मस्य ह्याश्रयाणां च लक्षणम् ॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च सर्वशः ।
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ।
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥
न्यायः शिक्षा चिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ।
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥
तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्तनम् ।
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ।
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ॥ ३

"मैंने इस भारतरूपी अपूर्व काव्यकी रचना की है। इसमें निम्न लिखित विषयोंका समावेश होता है– वेदोंका रहस्य, उपनिषदोंका तत्वज्ञान, अंग–उपागोंकी व्याख्या, इतिहास और पुराणका विकास, त्रिकालका निरूपण, जरा-मृत्यु, भय, व्याधि, भाव अभावका विचार, त्रिविध धर्म और आश्रमका विवेचन, वर्णधर्म आदि।

व्यासके इस कथनसे प्रतीत होता है कि महाभारतकी रचनेमें व्यासका उद्देश्य राजाओंके इतिहासका वर्णन करना नहीं था, अपितु मनोरंजक कथाके माध्यमसे लोगोंको धर्म समझाना ही था। व्यासका यह निश्चित मत था कि यदि लोग धर्मका आचरण करें, तो मनुष्योंको अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति आसानीसे हो सकती है—

ऊर्ध्वबाहुः विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

"मैं हाथ उठा उठाकर चिल्ला रहा हूँ, पर कोई भी मेरी बात नहीं सुनता, धर्मसे ही अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, फिर धर्मका ही आचरण क्यों न किया जाए?"

उपर्युक्त श्लोकके उत्तरार्धसे महाभारत रचनाका व्यासका उद्देश्य स्पष्ट होता जाता है। महाभारतके द्वारा वे एक ऐसे कृष्णका वर्णन करना चाहते थे, जो "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां धर्मसंस्थापनार्थाय।" इस संसारमें बार बार जन्म लेना चाहता हो, वे ऐसे युधिष्ठिरका वर्णन करना चाहते थे, जो धर्मकी रक्षाके लिए कठिनसे कठिन संकटोंको भी झेल सके। इस प्रकार—

(१) महाभारत एक अपूर्व काव्य ग्रन्थ है।

(२) कौरव–पाण्डवोंके इतिहासके माध्यमसे उसमें विविध शास्त्रोंका वर्णन है।

(३) महाभारतकालमें विद्यमान शास्त्रोंका संग्रह इस महाभारतमें किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रंथ वस्तुतः एक विश्वकोश है। श्रीभागवतमें स्पष्ट कहा है कि– "भारतके माध्यमसे व्यासने वेदोंका अर्थ ही प्रदर्शित किया है।"

"स्त्री, शूद्र और मूर्ख द्विज श्रुतिका अर्थ नहीं समझ सकते, इसलिए इन्हें श्रेयः प्राप्तिका मार्ग बतानेके लिए व्यासने महाभारतकी रचना की।" ४

यह महाभारत अज्ञानी लोगोंके लिए अंजनकी एक शलाका है, जिसे आंखोंमें लगाकर अज्ञानी भी हर तरहसे ज्ञानवान् हो जाता है। महाभारतकी यह प्रशंसा कोई अत्युक्ति नहीं है। इन्हीं विशेषताओंके कारण महाभारतको पांचवा वेद कहा गया है। इतिहास है कि पूर्वकालमें देवताओंने तराजूकी एक तरफ चारों वेदोंको और दूसरी तरफ केवल महाभारतको रखकर तोला, तो महाभारत ही वजनदार निकला। वस्तुतः इसका तात्पर्य यह नहीं कि तत्त्वज्ञानमें महाभारत वेदसे बढ चढकर है। इसका तात्पर्य यही है कि वैदिकतत्त्वज्ञानको ही महाभारतमें इस रूपमें प्रस्तुत किया गया है, कि सर्व साधारणके लिए आसान हो गया। वेदोंके द्वारा तत्वज्ञानको समझना हरएकके बूतेकी बात नहीं है, पर उसी तत्वज्ञानको महाभारतकी कथाके माध्यमसे मनुष्य

३ महाभारत आदिपर्व १।६१–६९
४ भागवत १. ४. १८, २५.

आसानीसे समझा जाता है। दूसरा कारण यह भी है- उपनिषदोंमें मुख्य विषय अध्यात्मका ही होनेसे मनुष्य उनके अध्ययनसे अध्यात्मशास्त्रमें तो परिपूर्ण हो जाता है, पर सांसारिक व्यवहारशास्त्रमें अधूरा ही रह जाता है। पर महाभारत एक ऐसा ग्रंथ है कि जिसमें अध्यात्म और व्यवहार दोनों पक्षोंका समावेश हो जाता है, अतः महाभारतका अध्ययन करनेवाला दोनों दृष्टियोंसे योग्य बन जाता है। स्वयं व्यासका कथन है—

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ ५

"जो विद्वान् अंगों सहित चार वेद और सम्पूर्ण उपनिषद् जानता हो, परन्तु उसने महाभारतका अध्ययन न किया हो तो वह विचक्षण या बुद्धिमान् नहीं हो सकता। क्योंकि—

अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥ ६

"इसमें अत्यन्त बुद्धिमान् व्यासने अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और कामशास्त्रका पूरा पूरा विवेचन किया है।" इसलिए बिना महाभारतको पढे वेदोंका अर्थ समझना बड़ा कठिन है। कहा भी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥ ७

"इतिहास और पुराणोंसे वेदार्थका विचार किया जाए, क्योंकि अधूरे ज्ञानवालेसे वेद बहुत डरते हैं कि कहीं यह अर्थका अनर्थ न कर डाले।"

कथा है कि एक बार विद्या ब्रह्मज्ञानियोंके पास पहुंची और उनसे बोली कि हे ब्राह्मणो! मैं तुम्हारा खजाना हूँ, तुम मेरी रक्षा करो। ये अल्पज्ञानी मेरा रूप विकृत कर रहे हैं। वस्तुतः वेदोंके अर्थका अनर्थ करना ही उसके रूपको विकृत करना है। पर महाभारत आदि ग्रंथोंके अध्ययनसे मनुष्यको वेदार्थका परिज्ञान हो सकता है।

ऐसा कोई भी विद्याका पक्ष नहीं, जिसे व्यासने स्पर्श न किया हो। सभी शास्त्रोंका सार इस महाभारतमें आ गया है। वस्तुतः 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वं' यह सारा जगत् और सारे वाङ्मय शास्त्र व्यासके द्वारा उच्छिष्ट हो चुके हैं, अर्थात् ऐसा कोई भी स्थान नहीं जिस पर व्यासने अपने विचार व्यक्त न किए हों।

महाभारतके संस्करण

महाभारतका वर्तमानरूप अनेकों परिवर्धनोंका संस्करण है। स्वयं महाभारतमें इसका प्रमाण है। मूल महाभारतके प्रणेता श्री व्यासने अपने पांच शिष्योंको महाभारत सिखाया। इन पांच शिष्योंमें वैशम्पायन एक थे। वैशम्पायनने सर्पसत्रके समय जनमेजयके सामने महाभारतकी कथा सुनाई। वैशम्पायनका यह आख्यान वस्तुतः प्रश्नोत्तरके रूपमें है। जनमेजय प्रश्न पूछता है और वैशम्पायन उन प्रश्नोंका उत्तर देते जाते हैं। इस रूपमें महाभारतकी कथा आगे बढती जाती है। इस प्रकार व्यासके मूल महाभारतमें वैशम्पायन द्वारा परिवर्धन होता गया। इसके बाद दूसरा परिवर्धन सौतिके द्वारा होता है। शौनकके द्वादशवर्षीय यज्ञके अन्तमें नैमिषारण्यमें आकर सौति महाभारतकी कथा सुनाते हैं। इस प्रकार वर्तमान महाभारतके संग्रहकर्ताके रूपमें हमारे सामने व्यास, वैशम्पायन और सौति ये तीन उपस्थित होते हैं। इसी दृष्टिसे महाभारतके तीन नाम सुने जाते हैं। व्यासने महाभारतको जय नामसे पुकारा है। महाभारतके प्रथम श्लोकमें ही इस नामकी चर्चा है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

इसके बाद जब इसमें परिवर्धन हो गया, तब इसका नाम भारत पड गया, अन्तमें जब दूसरी बार फिर परिवर्धन हुआ, तब इसका नाम महाभारत पडा। अनुमानके आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यासका जय ही वैशम्पायनके परिवर्धित संस्करणके कारण भारत और सौतिके परिवर्धित संस्करणके कारण महाभारत बन गया। भारत और महाभारतका नाम आश्वलायन गृह्यसूत्रके समय प्रचलित था। उस सूत्रकी तर्पण विधिमें एक सूत्र आया है, जो इस प्रकार है-

सुमन्तु-जैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्रभाष्य-भारत-महाभारत-धर्माचार्यास्तृप्यन्तु।

५ महाभारत आदिपर्व. २।३८२
६ महाभारत आदि २।३८३
७ महाभारत आदिपर्व १।२६७

इस सूत्रके आधार पर कहा जा सकता है कि इस समय तक व्यासका जय, भारत और महाभारत बन चुका था। वैशम्पायन व्यासका शिष्य और यजुर्वेदका मुख्य प्रवर्तक था। शुक्ल यजुर्वेदका मुख्य अनुयायी याज्ञवल्क्य वैशम्पायन का भांजा था। वैशम्पायनने याज्ञवल्क्यको भी यजुर्वेदकी शिक्षा दी, पर बादमें याज्ञवल्क्य अपने मामासे झगड पडा, और फिर उसने सूर्यसे यजुर्वेद सीख कर शुक्ल यजुर्वेदका प्रवर्तन किया। यह कथा महाभारतमें भी आई है। इसी वैशम्पायनने जनमेजयको सर्पसत्रमें महाभारतका आख्यान सुनाया था। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्यके अनुसार यह सर्पसत्र ईसा पूर्व ३००० के लगभग तक्षशिलामें हुआ था। इस प्रकार आजका महाभारत तीन संस्करणोंवाला है। महाभारतके प्रारंभके सम्बन्धमें व्यक्त किए गए विचारोंसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि आजका महाभारत तीन संस्करणोंके बाद अस्तित्वमें आया। महाभारतके प्रारंभके सम्बन्धमें तीन तरहके विचार व्यक्त किए जाते हैं। स्वयं महाभारतमें इस बातका प्रमाण है—

मन्वादिभारतं केचित् आस्तीकादि तथाऽपरे।
तथोपरिचरादन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ८

" कुछ विद्वान् महाभारतका प्रारंभ मनुकी कथासे मानते हैं, कुछ आस्तीककी कथासे और कुछ उपरिचर राजाकी कथासे।"

इन तीनों संस्करणोंमें श्लोकसंख्यामें भी बडा भेद आ गया है। उसका कारण यह है कि ज्यों ज्यों महाभारतके आख्यानकी परम्परा बढती गई त्यों त्यों उसका कलेवर भी बढता गया। इस प्रकार अन्तिम संस्करणमें महाभारतके एक लाख श्लोक हो गए। अब हम क्रमशः इन तीन संस्करणोंपर विचार करते हैं—

प्रथम संस्करण– यह प्रथम संस्करण, कहा जा सकता है कि, व्यासकी ही रचना थी। यह आख्यान न होकर वास्तवमें एक इतिहास था, और व्यासने इस इतिहासका नाम जय रखा था। महाभारतके पहले ही श्लोकमें व्यास कहते हैं कि " ततो जयमुदीरयेत् " अर्थात् नर, नारायण और सरस्वतीको नमस्कार करके जयका अध्ययन करें। स्वर्गारोहणपर्वमें भी इस बातका स्पष्ट प्रतिपादन है कि इतिहासग्रन्थका नाम 'जय' है। ९ इस मूल ग्रं संख्या कितनी थी कुछ निश्चित नहीं कहा जा पर—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न

(इन आठ हजार आठ सौ श्लोकोंको मैं जानत जानता है, पर संजय जानता है या नहीं, मैं नहीं इस श्लोकके आधार पर मॅकडॉनलने इस मू ग्रंथकी श्लोक संख्या ८, ८०० मानी है। पर डॉ. वैद्य इस बातसे असहमत हैं। उनका कहन यह संख्या तो उन श्लोकोंकी है, जो कूट हैं। साथ यह भी कहना है कि व्यासने अपने ग्रंथकी शुरुआ उपरिचरो नाम " इस श्लोकसे की थी। ११ उस आस्तीक, पौलोम, पौष्य आदि पर्व बादमें जोडे अनुक्रमणिका अध्याय भी बादका है। इस प्रकार ६२ अध्याय बादमें मिलाये गए। पर हमारा विचा कि व्यासके मूल ग्रंथमें २४,००० के करीब श्लोक

दूसरा संस्करण– व्यासने सुमन्तु, जैमिनी, पै पुत्र शुक और वैशम्पायनको महाभारत सिखाया चलकर इन पांचों शिष्योंने पृथक् पृथक् रूपसे महा संस्करण किया। पर आज केवल वैशम्पायनका ही उपलब्ध है। वैशम्पायनके संस्करणका नाम " भार आश्वलायन गृह्यसूत्रकारने इन पांचोंको भारताचार्य सम्बोधित किया है। वैशम्पायनके संस्करणके श्लोक कोई निश्चित संख्या नहीं कही जा सकती।

आस्तीक पर्वतक सूत्रधार सौति और शौनक हैं। उसके बाद आदिवंशावतरणपर्वके प्रारंभमें सौ शौनक अदृश्य हो जाते हैं और उनका स्थान वै वैशम्पायन और जनमेजय। इससे यह अनुमान ल सकता है कि वैशम्पायनके भारतकी शुरुआत आदि तरणपर्वसे ही हुई। इस जनमेजयका समय ईसा पूर्व का निश्चित किया जाता है। यदि यह मान लिया महाभारत युद्धको कमसे कम तो ३१०० ईसा पूर्व

८ आदिपर्व ११।५२
९ जयो नामेतिहासोऽयम्– स्वर्गारोहणपर्व।
१० आदिपर्व. ८१।३
११ आदिपर्व. ५७।१

पड़ेगा। इस प्रकार सौ डेढ़ सौ वर्षके बाद जयका दूसरा संस्करण भारतके रूपमें अस्तित्वमें आया।

तीसरा संस्करण– यह संस्करण सूतपुत्र उग्रश्रवाका है। वैशम्पायनके बाद थोड़े बहुत परिवर्धनके साथ इन्होंने तीसरा संस्करण तैयार किया। इस अन्तिम संस्करणमें एक लाख श्लोक थे। सौति स्वयं कहते हैं—

अस्मिंस्तु मानुषे लोके वैशम्पायन उक्तवान्।
एकं शतसहस्रं तु मयोक्तं वै निबोधत॥

इस प्रकार प्रतीत होता है कि इस अन्तिम संस्करणमें श्लोकोंकी संख्या एक लाख तक पहुंच गई थी।

इस संस्करणकी शुरुआत मनुसे मानते हैं। यूं तो महाभारतमें मनु शब्दसे शुरु होनेवाला कोई श्लोक नहीं है, पर वैवस्वत शब्दको ही मनुका पर्यायवाची मानकर उस श्लोकसे ही इस संस्करणकी शुरुआत मानते हैं। यही तीसरा संस्करण आज महाभारतके रूपमें हमारे सामने उपलब्ध है। पर आज जो महाभारत उपलब्ध है, उसमें भी एक लाख श्लोक नहीं हैं, वरन् कम ही हैं। इस सौतिका काल लोकमान्य तिलकने २५० ईसापूर्व माना है।

महाभारत—एक अद्वितीय महाकाव्य

महाभारतकी अद्वितीयता निर्विवादित है। हर दृष्टिसे यह महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। स्वयंमें तो एक महाकाव्य है ही, पर साथ ही यह अनेक महाकाव्योंका प्रेरणास्रोत रहा है। महाकवि कालिदासकी "अभिज्ञान शाकुन्तलं", भारविका "किरातार्जुनीयम्", माघका "शिशुपालवध" आदि अनेकों काव्योंकी कथायें महाभारतसे ही ली गई हैं। इस महाकाव्यकी महत्ता उसके उद्देश्यसे और बढ़ जाती है। यह महाकाव्य वस्तुतः स्वांतःसुखायके लिए व्यासने नहीं लिखा, अपितु उनका उद्देश्य लोगोंको धर्मकी तरफ प्रेरित करना ही था। महाभारतको यदि हम एक राष्ट्रीय काव्य कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

महाभारतके नायक और नायिकाको निश्चित करना एक असाध्य कार्य है। क्योंकि इसमें अनेकों पात्रोंका जमघट है, जिनमें सभी नायक प्रतीत होते हैं। दुर्योधन तो सारे महाभारत पर छाया रहता है, पर अन्तमें वह मारे जानेके कारण उसे राज्यपदकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उसे नायक कहना असंगत होगा। इसी प्रकार महाभारतके अध्ययन करनेवालेको युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, दुर्योधन, कर्ण आदि सभी नायक प्रतीत होते हैं।

महाभारतमें पात्रोंकी अत्यधिकता होनेपर भी महाभारतकारने सभीके साथ न्याय किया है। हर पात्रको पाठकके सामने आनेका यथायोग्य अवसर प्रदान किया है। महाभारतकारने महाभारतके सर्वोत्कृष्ट पात्र श्रीकृष्णको नारायणका अवतार मानकर ही उनका वर्णन किया है।

महाभारतकी द्रौपदी एक आदर्श नारी है। वह एक सती साध्वी और पतिव्रता है। द्रौपदीके चित्रणके द्वारा व्यासने स्त्रियोंके सामने एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। वनपर्वमें द्रौपदीके गुणोंका बड़ा सुन्दर वर्णन व्यासने किया है। वनमें रहते हुए द्रौपदीसे जब सत्यभामा मिलने जाती है, तब बातों ही बातोंमें वह द्रौपदीसे पूछती है कि उसके पांचों पति उसके वशमें किस तरह रहते हैं, तब वह जो वर्णन करती है, वह बड़ा मार्मिक है। वह कहती है—

"मैं अहंकार और काम–क्रोधको छोड़कर पाण्डवोंकी सेवा करती हूं। मैं कभी अपने मुंहसे बुरी बात नहीं निकालती। असभ्यकी भांति व्यवहार नहीं करती। पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका सदैव अनुसरण करती हूं। देवता, मनुष्य, गंधर्व या कितना भी रूपवान् संपन्न भी मेरे सामने आ जाए, फिर भी मेरा मन पाण्डवोंको नहीं छोड़ता। पतियों और उनके सेवकोंको भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती। उनके सोनेके बाद ही मैं सोती हूं। बाहरसे जब मेरे पति आते हैं, तब मैं मुस्कराकर उनका स्वागत करती हूं। मेरे पति जिस पदार्थको पसन्द नहीं करते, उसे मैं भी त्याग देती हूं। हे सत्यभामे! गुरुजनोंकी सेवा शुश्रूषासे ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं।"

द्रौपदीके इन वाक्योंसे ही उसका चरित्र स्पष्ट हो जाता है। वह अपने पतियोंके सुख दुःखमें सहभागिनी रहती है। एक साधारण मानवी होनेके कारण वह भी कभी धर्मराजसे भला बुरा कह डालती है। पर इससे व्यासके ऊपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। क्योंकि व्यासने द्रौपदीको मानवीके रूपमें ही प्रस्तुत किया है, किसी अलौकिक देवीके रूपमें नहीं। यदि व्यास द्रौपदीमें दोष न दिखाकर केवल गुण ही गुण दिखाते, तो उन पर आक्षेप किया जा सकता था। व्यास द्रौपदीके चित्रण द्वारा सभी स्त्रियोंको ऐसी ही साध्वी और पतिव्रता बनाना चाहते थे।

इसी प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरका चित्रण भी आकर्षक है। धर्मके रूपमें युधिष्ठिरने अपने कर्तव्यका पूर्णरूपेण पालन किया। वनवासका दुःसह कष्ट सहनेके बावजूद भी वे धर्मसे च्युत नहीं हुए। उनके सामने धर्मका पालन ही एक मात्र लक्ष्य था। वे सारे महाभारतमें एक सत्यवादीके रूपमें ही पाठकोंके सामने आते हैं। किंवदन्ती है कि हमेशा सत्य बोलनेके कारण उनका रथ हमेशा जमीनको न छूता हुआ चलता था। पर द्रोण पर्वके समय "नरो वा कुंजरो वा" के कथनके साथ ही उनका रथ पृथ्वीको छूकर दौड़ने लग गया। संभव है कि इस किंवदन्तीमें अतिशयोक्ति हो, पर इतना अवश्य सच है कि युधिष्ठिरकी सत्यवादिता अतुलनीय थी। धर्मराज सभी पाण्डवोंमें विशेष बुद्धिमान् थे। उनकी बुद्धिमत्ता वनपर्वके अन्तर्गत यक्ष द्वारा पूछे गए प्रश्नोंके उत्तरोंमें स्पष्ट झलकती है। इस प्रकार युधिष्ठिरमें धर्म एवं बुद्धिमत्ता, भीममें बल, अर्जुनमें कुशलता एवं वीरता, नकुल और सहदेवमें आज्ञाकारिता, द्रौपदीमें पातिव्रत्यधर्मका अद्भुत सम्मिश्रण व्यासकी अनोखी प्रतिभाका परिचायक है।

दूसरी तरफ खलनायक दुर्योधन और उसके प्रेरणास्रोत शकुनि, दुःशासन और कर्ण आदियोंका भी बड़ा याथातथ्य वर्णन है। दुर्योधनमें भी वीरता, शौर्य और अभिमानके भावोंका अच्छा परिपाक है।

इस प्रकार महाभारत एक सुन्दर महाकाव्य है। पर कुछ विद्वान् इसे महाकाव्य माननेसे इन्कार करते हैं। वे इसे एक इतिहासग्रंथ मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि व्यासने स्वयं इस ग्रंथको एक इतिहास ही माना है। पर जब उसमें महाकाव्यके अंग उपलब्ध होते हैं, तब उसे महाकाव्य माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? यों तो रामायण भी एक इतिहास ही है, पर प्रायः सभी पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् उसे संस्कृत भाषाका आदि महाकाव्य मानते हैं। उसी तरह महाभारत भी इतिहास ग्रंथ होते हुए भी एक महाकाव्य ही है। यह ठीक है कि व्यासने महाकाव्यकी दृष्टिसे इस ग्रंथका प्रणयन नहीं किया, क्योंकि उस समयतक लक्षण ग्रंथोंकी रचना नहीं हो पाई थी। पर उसके बाद जो लक्षण ग्रंथ बने और उन ग्रंथोंमें महाकाव्यकी जो परिभाषा या उसके लक्षण निश्चित किए गए, प्रायः वे भी लक्षण महाभारतमें दृष्टिगोचर होते हैं। इस ग्रंथका प्रधान रस वीर है, पर कहीं कहीं श्रृंगार एवं शान्त भी उसके अंग रूपमें आ जाते हैं। प्रकृति वर्णन भी अनेक स्थलों पर आया है। इस दृष्टिसे महाभारतको एक ऐतिहासिक महाकाव्य मानना अनुचित न होगा।

महाभारतमें श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण महाभारतके उन मुख्य पात्रोंमेंसे एक हैं, कि जिनको यदि निकाल दिया जाए, तो सारा महाभारत एक सारहीन ग्रंथ बन जाए। श्रीकृष्णका वास्तविक दर्शन महाभारतमें ही होता है। श्रीकृष्ण एक चन्द्रवंशी राजा थे। ययाति राजाकी दो रानियां थीं, एक असुरोंके गुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और दूसरी असुरराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा। देवयानीसे यदु और तुर्वसु और शर्मिष्ठासे द्रुह्यु, अनु और पुरु इस प्रकार पांच पुत्र पैदा हुए। उनमें यदुसे यादववंशकी परम्परा चली और पुरुसे पौरववंशकी। यादववंशमें श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए और पौरववंशमें कौरव और पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई। श्रीकृष्णकी बुआ कुन्तीसे पांच पाण्डव पैदा हुए। इस रीतिसे पाण्डव श्रीकृष्णके फुफेरे भाई थे। यद्यपि यादवकी दृष्टिमें कौरव और पाण्डव समान थे। पर पाण्डवोंने श्रीकृष्णको हमेशा अपने सहायकके रूपमें देखा।

महाभारतकार अवतारवादके समर्थक थे। महाभारतमें वह कथा आती है कि जब पृथ्वी अधर्मके बोझसे बड़ी आर्त हो गई, तब वह नारायणकी शरणमें गई और उसने अपना दुःख उन्हें सुनाया, तब उन्होंने नरको अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण होनेका आदेश देकर स्वयं कृष्णके रूपमें अवतीर्ण हुए।

श्रीकृष्णके रूपमें अवतीर्ण होकर उन्होंने अनेक मानवी कर्म किए, पर साथ ही अनेक अलौकिक कर्म भी किए। श्रीकृष्णका मुख्य उद्देश्य था धर्मकी संस्थापना। वे स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।

× × ×

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"मैं सज्जनोंकी रक्षा, दुष्टोंके विनाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिए प्रत्येक युगमें जन्म लेता हूँ।

जब जब धर्मकी हानि होती और अधर्मकी उन्नति होती है, तब तब मैं उत्पन्न होता हूँ।"

इन दो श्लोकोंमें श्रीकृष्णने अपना उद्देश्य स्पष्ट कर दिया है। कई लोग महाभारत युद्धका प्रणेता श्रीकृष्णको ही ठहराते हैं, उनके इस कथनमें थोडी सचाई भी है। यदि वे चाहते तो महाभारतका युद्ध टल सकता था। पर कृष्णकी दूरदृष्टिने देख लिया था कि यदि यह युद्ध न हुआ तो धर्म हमेशाके लिए रसातल चला जाएगा। महाभारतमें ही एक प्रसंग है, भीष्मने एक बार श्रीकृष्णसे पूछा— "भगवन्! जब आप जानते थे कि इस युद्धमें महाविनाश उपस्थित होनेवाला है, तब आपने इस युद्धको रुकवा क्यों नहीं दिया?" उत्तरमें भगवान् बोले— "यदि मैं यह युद्ध न करवाता तो सर्वत्र अधर्मका साम्राज्य छा जाता और धर्म बिलकुल नष्ट हो जाता।" श्रीकृष्ण यह जान गए थे कि धर्मकी स्थापनाके लिए यह युद्ध अनिवार्य था। यद्यपि पहले उन्होंने भी बडे प्रयत्न किए, पर जब दुर्योधन "सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव" के दुराग्रहसे राईभर भी नहीं हटा, तब श्रीकृष्णने दुर्योधनकी सभामें यह घोषणा कर दी कि— "दुर्योधन! सुन लो, अब तुम्हारा विनाशकाल उपस्थित हो गया है। तुम्हारे इस दुराग्रहके कारण यह युद्ध अब अनिवार्य है। इसमें जो मानवीसंहार होगा, उसकी जिम्मेदारी तुम पर होगी।" अन्ततक भगवान् इस बातके लिए प्रयत्नशील रहे कि यह युद्ध न हो और दोनों पक्षोंमें सुलह हो जाए।

पर प्रतीत ऐसा होता है कि उनका यह प्रयत्न बाह्यरूप था, अन्दरसे तो वे यही चाहते थे कि यह युद्ध हो अवश्य। वे भारत अखण्ड देखना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि अखण्ड आर्यावर्तमें आर्योंका ही साम्राज्य हो, विदेशियोंका नहीं। महाभारतके समय पूरा आर्यावर्त अनेक खण्डोंमें विभक्त हो चुका था। सभी राजा स्वयंको स्वतंत्र घोषित कर चुके थे और वे सभी राजा अपने अत्याचारोंके लिए विख्यात हो चुके थे। मगधका राजा जरासंध बडा ही अत्याचारी था। उसने अनेकों राजाओंको कैद कर रखा था। दूसरी तरफ हस्तिनापुरका शासन भी बडा कमजोर हो चुका था। उसकी सत्ता अन्य प्रान्तोंके राजाओंपर बडी अप्रभावी सिद्ध हो रही थी। धृतराष्ट्र केवल नाममात्रके लिए राजा रह गया था, सारी शासन सत्ता उसके पुत्र दुर्योधनके हाथमें आ चुकी थी। पर वह भी गांधारके राजा शकुनिके हाथका कठपुतली मात्र था। शकुनि जैसा चाहता, वैसा दुर्योधन करता जाता था। इस प्रकार दुर्योधन की आडमें शकुनि ही राज्य कर रहा था। या कहा जा सकता है कि उस समय आर्यावर्त पर गांधार देशका एक विदेशी राजा ही शासन कर रहा था। यदि युद्ध न होता और सारे भारतकी सत्ता दुर्योधनके हाथमें चली जाती, तो एक दिन ऐसा आता कि अब सम्पूर्ण आर्यावर्त गांधार राज्यका एक अंग बन जाता। दूरदर्शी श्रीकृष्ण इस बातको जान गए थे। इसलिए इस युद्धके द्वारा सभी देशी विदेशी राजाओंका संहार करवा कर आर्यावर्तमें आर्योंके चक्रवर्ती साम्राज्यकी स्थापना की। इस प्रकार श्रीकृष्णके सामने भारतके अखण्डताकी कल्पना थी। वे हर दृष्टिसे भारतकी अखण्डताके अभिलाषी थे। महाभारत युद्धके बाद श्रीकृष्णका जीवन अज्ञातसा है। उस समयके जीवनपर प्रकाश डालते हुए गुजराती कवि श्री दलपतरामने "हरिसंहिता" के नामसे एक काव्यकी रचना शुरु की, पर बीचमें ही उनकी मृत्यु हो जानेके कारण वह रचना अधूरी ही रह गई। उसमें कविने लिखा है, (संभव है कि कविकल्पना इसमें अधिक रही हो) कि युद्धके बाद श्रीकृष्णने शस्त्रसंन्यास ले लिया और तीर्थयात्राके लिए चल पडे। सभी तीर्थोंकी यात्रा करनेके बाद वे प्रभासपत्तन पहुंचे, जहां एक व्याधके बाणसे उनकी मृत्यु हो गई। वहां कवि यह निष्कर्ष निकालता है कि युद्धके बाद राजनैतिक दृष्टया सारा आर्यावर्त अखण्ड हो चुका था, पर सांस्कृतिक दृष्टया अभी नहीं हो पाया था। इसलिए श्रीकृष्णने सारे भारतको सांस्कृतिक दृष्टिसे भी अखण्ड बनानेके लिए तीर्थयात्रा की थी। इस काममें वे सफल भी हुए। यही कारण था कि राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टिसे यह भारत अनेक सदियोंतक अखण्ड रहा।

महाभारतका रत्न-गीता

महाभारतका मूल्य यद्यपि सर्वत्र ही देखा जा सकता है, पर श्रीकृष्णकी गीताने इस महाकाव्यको देशों विदेशोंमें अत्यधिक महत्व प्रदान किया। सभी यह स्वीकार करते हैं कि गीता एक अद्वितीय ग्रंथ है। यही ग्रंथ है कि जिसका अनेकों विदेशी भाषाओंमें अनुवाद हो चुका है। संभवतः सर्वाधिक साहित्य भी इसी पर लिखा गया है।

महाभारतमें श्रीकृष्ण सर्वत्र एक राजनीतिज्ञके रूपमें सामने आते हैं, पर गीतामें वे एक सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकके रूपमें दिखाई देते हैं। गीता एक कर्मयोगीके द्वारा अपने कर्तव्यसे विरक्त या विमुख एक कर्मयोगीको कर्मयोगका उपदेश है। गीताको केवल एक अध्यात्मग्रंथ मानना इस ग्रंथके, श्रीकृष्ण के और व्यासके साथ अन्याय करना है। गीताके द्वारा कृष्णने एक संसारसे दूर भागनेवाले कर्तव्यपराङ्मुख वीरको इसी संसारमें रहकर कार्य करनेकी प्रेरणा दी। वह गीता मनुष्यको जंगलमें जाकर तपस्या करनेके लिए नहीं कहती, अपितु उसे इसी संसारमें रहकर अपने कर्तव्य करनेकी शिक्षा देती है। अतः इसे एक अध्यात्मशास्त्र कहनेकी अपेक्षा एक कर्तव्यशास्त्र या नीतिशास्त्र (An ethical treatise) कहना अधिक उपयुक्त होगा। कहना अनुचित न होगा कि यदि भगवान्ने अर्जुनको गीता न सुनाई होती, तो संभवतः महाभारत युद्ध होता ही नहीं और यदि होता भी तो कुछ और ही परिणाम आता।

श्रीकृष्णको पता था कि पाण्डवोंकी विजय निश्चित है, क्योंकि वे जानते थे कि "यतो धर्मः ततो जयः" जहां धर्म होता है, वहीं विजय होती है। इसीलिए उन्होंने पाण्डव अर्जुनको युद्धके लिए प्रेरित किया। महाभारतकार व्यास भी इस तथ्यसे भली भांति परिचित थे। इसीलिए वे गीताके अन्तमें कहते हैं—

> यत्र योगेश्वरो कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्री विजयो भूतिः ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

अर्थात् "जिस पक्षमें योगेश्वर कृष्ण हैं और महा धनुर्धारी अर्जुन हैं, उसी पक्षमें श्री, विजय और ऐश्वर्यकी प्रतिष्ठा रहेगी, यह मेरा निश्चित मत है।"

महाभारतमें श्रीकृष्ण बुद्धि एवं अर्जुन शक्तिके प्रतीक हैं। जिस राष्ट्रमें बुद्धि और शक्ति होगी, वह राष्ट्र हमेशा उन्नत रहेगा। इन्हीं दोनों शक्तियोंके लिए वेदोंमें ब्रह्म और क्षात्र शब्द आए हैं। वेदका मंत्र है-

> यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
> तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
> (यजु. २०।२५)

"जिस देशमें ब्रह्मशक्ति अर्थात् बुद्धिशक्ति और क्षात्रशक्ति अर्थात् शारीरिकशक्ति दोनों साथ साथ उत्तम रीतिसे चलते हैं, वही देश पुण्यशाली होता है।"

इस बातको महाभारतकार भी जान गए थे। इस प्रकार महाभारतमें श्रीकृष्ण राजनीतिज्ञ, योगेश्वर, दार्शनिक आदि अनेकों रूपोंमें दृष्टिगोचर होते हैं।

क्या महाभारत काल्पनिक है ?

महाभारतके सम्बन्धके अनेक विचारोंमें एक विचार यह भी है कि महाभारत एक कवि कल्पना है। इस विचारका मुख्य आधार है पात्रोंके नाम। महाभारतमें नाम मुख्यतया वैयक्तिक न होकर देशके ऊपर रखे गए हैं, उदाहरणार्थ- गांधारी गांधारदेशके राजाकी पुत्री होनेके कारण उसका नाम था। दूसरेका राज्य हर लेनेके कारण धृतराष्ट्र था। दुःशासन, दुर्योधन, दुःशला आदि नाम भी सार्थक नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार पांचाल देशके राजा द्रुपदकी पुत्री होनेके कारण द्रौपदी (द्रुपदस्यापत्यं द्रौपदी), आदि नाम कुछ अजीबसे लगते हैं। इसलिए लोगोंका विचार है कि यह महाभारत एक कवि कल्पना है। पर उनका यह विचार निराधार ही प्रतीत होता है। क्योंकि व्यवहारमें ऐसा भी देखा जाता है कि कई महापुरुष अपने उपनामसे ही ऐसे प्रसिद्ध हो गए हैं कि उनके मूल नामका ही पता नहीं लगता।

महाराष्ट्रमें इस प्रकारके अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। जैसे लोकमान्य तिलक, इनका पूरा नाम बाळ गंगाधर तिलक, होते हुए भी ये इतिहासमें तिलकके नामसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं। वीर सावरकर भी अपने गांव सावरके नामसे ज्यादा प्रसिद्ध हैं। पर इन नामोंके आधार पर इन व्यक्तियोंको काल्पनिक सिद्ध करना बड़ा कठिन काम है। इसी तरह महाभारत कालमें भी देशके नाम पर व्यक्तियोंके नाम रखने की प्रथा थी।

इसके अलावा महाभारत इतिहासके रूपमें ज्यादा प्रसिद्ध है। इसमें काव्यत्व है अवश्य, पर काव्यत्व गौण है और इतिहासत्व प्रधान। इतिहास घटना प्रधान होता है, कल्पना प्रधान नहीं। महाभारतका इतिहासत्व स्वयं महाभारतमें प्रतिपादित है—

> जयो नामेतिहासोऽयम् (स्वर्गारोहणपर्व)

इतिहासका अर्थ ही "इति ह आस" है, अर्थात् भूत कालमें ऐसा हुआ था। अतीतकालमें हुई घटनाओंका वर्णन महाभारतमें है। डॉ. सी. वी. वैद्यने अपने ग्रन्थ 'महाभारत ए क्रिटिसिज्म' में महाभारतको काव्य और इतिहास दोनों सिद्ध किया है।

महाभारतके रचयिता एवं रचनाकाल

महाभारतकी घटना भारतीय इतिहासमें एक अद्वितीय घटना है। या यह भी कहा जा सकता है कि यहींसे भारतीय इतिहासकी अखण्ड परम्परा चली आती है। महाभारतके कालको निश्चित करना बड़ी टेढ़ी खीर है। क्योंकि महाभारतके आजतक तीन संस्करण हो चुके हैं (जैसा कि हम पूर्व पृष्ठोंमें बता आए हैं) इन तीन संस्करणोंमें प्रथम संस्करण स्वयं व्यासका था और वे व्यास स्वयं महाभारतके समय मौजूद थे।

व्यासका मूल नाम कृष्ण था। इनके पिता महर्षि पराशर थे। इनके जन्मका वृत्तान्त महाभारतके आदि पर्वमें ही आया है। महर्षि पराशर तीर्थयात्रा करते हुए यमुना नदीके किनारे आये। वहां उस समय धीवरोंके राजा दाशराजकी कन्या सत्यवती नाव खे रही थी। महर्षि उस पर बैठे। नावमें सत्यवतीकी सुन्दरता पर मोहित होकर उन्होंने उसकी कामना की। चूंकि सत्यवती धीवरकी कन्या थी, अतः उसके शरीरसे हमेशा मछलीकी दुर्गन्ध निकला करती थी, इसलिए उसे मत्स्यगंधा भी कहते थे। महर्षिकी अभिलाषा जानकर वह संकोचमें पड़ी। वह बोली कि नदीके दोनों तरफ महर्षिगण स्नान आदि कर रहे हैं, इस स्थितिमें यह कैसे संभव है? तब पराशरने अपनी तपस्याके प्रभावसे चारों ओर कोहरा पैदा कर दिया और उससे चारों ओर अन्धकार सा छा गया। फिर महर्षिने उसे यह भी वरदान दिया कि पुत्रोत्पत्तिके बाद वह फिरसे कन्या बन जाएगी और इसके शरीरसे दुर्गन्धिके बजाए सुगंधी निकला करेगी। यह सुगंध एक योजन [१२] से भी अनुभव की जा सकती थी। इसीलिए सत्यवतीका नाम योजनगंधा भी पड़ गया। इस सत्यवतीसे पराशरने यमुनाके एक द्वीपपर एक पुत्र पैदा किया। घने अन्धकारमें वीर्याधान करनेके कारण यह पुत्र एकदम कृष्ण वर्णका हुआ, इसलिए इसका नाम कृष्ण पड़ा, और चूंकि यमुनाके एक द्वीप पर जन्म हुआ, इसलिए ये द्वैपायनके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्होंने वेदोंकी व्यवस्था की अर्थात् विषयके अनुसार वेदोंको अलग अलग किया, इसलिए इनका नाम व्यास पड़ा। [१३] ये ही महाभारतके मूल रचयिता माने जाते हैं। कई विद्वान् इनके अस्तित्वमें भी सन्देह उपस्थित करते हैं। पर प्राचीन परम्पराके अनुसार ये महाभारत कालमें थे और इन्होंने ही मूल महाभारतकी रचना की थी। इसी प्राचीन परम्पराको हम भी स्वीकार करते हैं।

महाभारत युद्धके पूर्व ग्रंथके रचना कालमें बड़ी अटकलें बाजियां हैं। सौति द्वारा किए गए महाभारतके तीसरे संस्करणका काल लगभग निश्चित हो है। लोकमान्य तिलकने इसका काल ईसापूर्व १५० का माना है। इसका अर्थ यह है कि सौतिका काल २५० से १०० ईसा पूर्वके मध्यमें माना जा सकता है।

वैशम्पायनका काल जनमेजयका काल ही है। क्योंकि वैशम्पायनने ही यह महाभारत जनमेजयको सुनाया था। जनमेजयका काल ईसा पूर्व ३००० के आसपास माना जा सकता है। पर कई विद्वान् वैशम्पायनका काल १४०० ईसापूर्वके आसपास मानते हैं।

महाभारत युद्धका काल प्राचीन भारतीय परम्पराके अनुसार द्वापर और कलियुगका सन्धिकाल है। भारतीय गणनाके अनुसार कलियुगको शुरु हुए आज करीब ५००० वर्ष हो चुके हैं। इसका अर्थ यह है कि महाभारत युद्धको भी करीब इतने ही वर्ष हो गए होंगे। कतिपय भारतीय विद्वानोंके अनुसार ईसापूर्व ३१०० के आसपास यह युद्ध हुआ था। रायबहादुर सी. वी. वैद्यने भी इसी कालको प्रामाणिक माना है। इस प्रकार ईसा पूर्वके ३१०० और ईसा बादके १९६७ बरस मिलाकर करीब ५००० वर्षोंकी हमारी काल गणना ठीक बैठती है।

इसके आधारपर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारतका युद्ध ईसापूर्व ३१०० के आसपास हुआ और उस युद्धका और कौरव पाण्डवोंका आंखों देखा इतिहास व्यासने जय नामक एक छोटेसे ग्रंथमें किया। जिसे ईसा पूर्व ३००० के आसपास वैशम्पायनने परिवर्धित करके सर्पसत्रके अवसर पर राजा जनमेजयको सुनाया। तत्पश्चात् उसके अनेक वर्षोंके बाद ईसापूर्व २५० या १०० के आसपास सौतिने फिर उसमें परिवर्धन करके नैमिषारण्यमें यज्ञके अवसरपर शौनकको सुनाया।

---

१२ चार कोसका एक योजन और २ मीलका एक कोस = ८ मीलका एक योजन.

१३ वेदं विव्यास यस्मात्स व्यास इत्यभिधीयते ।

महाभारतके पर्वविभाग एवं श्लोक संख्या

हो सकता है कि सौतिके संस्करणतक अनेक श्लोक मिला दिए गए हों, पर सौतिके बाद उसमें प्रक्षेप करना असंभव सा हो गया। क्योंकि सौतिने अपने अनुक्रमणिका अध्यायमें पर्व और प्रत्येक पर्वके अन्तर्गत अध्याय एवं श्लोकोंकी संख्या भी दे दी है। इसलिए उसके बाद प्रक्षिप्त श्लोकोंकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आज महाभारतके नीलकण्ठ, कुम्भकोणं और भाण्डारकर पूनाके संस्करण मिलते हैं इन संस्करणोंमें भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूटका संस्करण सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। इन तीनों संस्करणोंमें उपलब्ध अध्यायों एवं श्लोकोंकी संख्याकी तालिका इस प्रकार है।

पर्व	अनुक्रमणिकोक्त प्रति		नीलकण्ठकी प्रति		कुम्भकोणंकी प्रति		भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टी० प्रति	
	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक	अध्याय	श्लोक
आदिपर्व	२२७	८८८४	२३४	८४६६	२६०	१०९९८	२१८	७९८४
सभा०	७८	२५११	८१	२७०२	१०७	४३७७	७२	२५११
वन०	२६९	११६६३	३१५	११८५४	३१५	१४०८१	२६९	११६६४
विराट्०	६७	२०५०	७२	२३२७	७८	३५७५	६७	२०५०
उद्योग०	१८६	[illegible]	१९६	६६१८	१९६	६७५२	१८६	६६९८
भीष्म०	११७	५८८४	१२२	५८१७	१२२	५९०८	११७	५५८४
द्रोण०	१७०	८९०९	२०२	९५९२	२०३	१०१२७	१७०	८९०९
कर्ण०	६९	४९६४	६६	४९८७	१०१	७९८६	६९	४९००
शल्य०	५९	३२२०	६५	३६०८	६६	३५९४	५९	३२२०
सौप्तिक०	१८	८५०	१८	८१०	१८	८१५	१८	८७
स्त्री०	२७	७७५	२७	८२६	२७	८०७	२७	७७
शान्ति०	३२९	१४७३१	३६६	१३७३२	३७५	१५१५३	३३९	१४५२
अनुशासन०	१४६	८०००	१६९	७८३९	२७४	१०९८३	१४६	६७२
आश्वमेधिक०	१०३	३३२०	९२	२८५२	११८	४५४३	१३३	३३२
आश्रमवासिक०	४२	१५०६	३९	१०८५	४१	१०९८	४२	१५०
मौसल०	८	३२०	८	२८७	९	३००	८	३०
महाप्रास्थानिक०	३	१२०	३	१०९	३	१११	३	१२
स्वर्गारोहण०	५	२०९	६	३०७	६	३३७	५	२०
हरिवंश० ×	२६३	१२०००	—	१२०००	—	१२०००	—	१२००
योग	२३७२	९६८३६		९५८२६		९८५४५		९४२४

× हरिवंशकी संख्या स्वतंत्र है। यद्यपि यह हमेशा महाभारतमें गिना जाता है, पर वह महाभारतके परिशि समान होनेके कारण वह हमेशा पृथक् ही रहता है।

इन उपर्युक्त तीनों संस्करणोंमें भाण्डारकर ऑरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना द्वारा सम्पादित संस्करण ही सर्वाधिक प्रामाणिक एवं प्रक्षेपरहित माना जाता है। इसीलिए हमने इसी संस्करणपर अनुवाद करना उचित समझा। इस संस्करणकी विशेषता यह है कि इसमें शुद्ध पाठके साथ साथ पाठभेद भी फुटनोटमें दे दिए हैं। हमारी भी यही अभिलाषा थी कि हम भी फुटनोटमें पाठभेद देते, पर स्थानाभावके कारण हम वैसा न कर सके, तदर्थ हमें खेद है।

आदिपर्वका सारांश

यह प्रथम पर्व है। इसमें प्रस्तुत संस्करणके अनुसार २१८ अध्याय और ७९८४ श्लोक हैं। इस पर्वमें अनेक उपपर्व हैं। अनुक्रमणिका एवं पर्वकी गणनाके बाद इसकी कथा जनमेजयके सर्पसत्रमें जनमेजयके भाईयोंके द्वारा मारे गए कुत्तेकी माता सरमासे शुरु होती है। तदनन्तर धौम्यके तीन शिष्य आरुणि, उपमन्यु और वेदकी कथायें हैं। अपने गुरुकी आज्ञानुसार आरुण खेत पर पानी रोकनेके लिए जाता है और जब वह रुकता नहीं, तब उस जगह स्वयं लेट जाता है। उपमन्यु भी गायोंको चराता है, पर जब गुरुके द्वारा हरएक चीज खानेसे निषिद्ध कर दिया जाता है, तब आकके पत्ते खाकर वह अन्धा होकर एक कुएंमें गिर पड़ता है, तब अश्विनी आकर उसे दृष्टिदान करते हैं।

वेदका शिष्य उतंक अपनी गुरुभार्याके लिए राजा पौष्यसे उसकी पत्नीसे कंगन मांगने जाता है। लाते समय वह कंगन सर्पराज तक्षकके द्वारा चुरा लिया जाता है। वह फिर नागलोक जाकर उन कंगनोंको प्राप्त करता है और ले जाकर गुरुभार्याको दे देता है। तक्षकके इस कार्यसे असन्तुष्ट होकर उसके सर्पनाश करनेके अभिप्रायसे जनमेजयके पास जाकर उसे सर्पयज्ञ करनेकी प्रेरणा देता है। यहां पौष्यपर्व समाप्त होता है।

इसके बाद पौलोमपर्वमें भृगुपत्नी पुलोमाका राक्षसके द्वारा अपहरण, भृगुका अग्निको शाप, विश्वावसु गन्धर्वके द्वारा मेनकामें उत्पन्न प्रमद्वराका राजा प्रमतिके द्वारा घृताचीमें उत्पन्न रुरुका विवाह, प्रमद्वराका सांपसे काटे जाकर मर जाना, रुरुका विलाप एवं अपनी आधी आयु देकर उसे जीवित करना, रुरुके द्वारा सर्पनाशकी प्रतिज्ञा, डुण्डुभकी कथाका वर्णन है।

आस्तीक पर्वमें जरत्कारुका गर्तमें अधोमुख अपने पितरोंको देखना, उनके उद्धारके लिए वासुकीकी बहिन जरत्कारुसे विवाह करना, उससे आस्तीक नामक पुत्र उत्पन्न करना, फिर क्रुद्ध होकर अपनी पत्नीको छोड़ जाना, विनता और कद्रुकी कथा, सर्पों एवं गरुडकी उत्पत्ति, समुद्र मंथनकी कथा, गरुडका स्वर्गसे अमृत लाना, जनमेजयका सर्पयज्ञ और आस्तीकके द्वारा सर्पयज्ञको रोककर वासुकी एवं तक्षककी रक्षाका वर्णन है।

आदिवंशावतरणपर्वमें कृष्ण द्वैपायन व्यासकी उत्पत्ति, शन्तनुकी कथा, शन्तनुसे सत्यवतीका विवाह, भीष्मप्रतिज्ञा, विचित्रवीर्यका विवाह एवं मरण, उसकी रानियां अम्बालिका एवं अम्बिका तथा दासीसे व्यास द्वारा पाण्डु, धृतराष्ट्र एवं विदुरकी उत्पत्ति, पाण्डुका कुन्ती एवं माद्री तथा धृतराष्ट्रका गांधारीसे विवाह, पाण्डुकी प्रार्थना पर कुन्तिसे धर्म, वायु, इन्द्रके द्वारा क्रमशः युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा अश्विनोंके द्वारा माद्रीमें नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति, धृतराष्ट्रके द्वारा गांधारीसे दुर्योधनादि सौ पुत्रोंकी उत्पत्ति, आदिका वर्णन है,

शकुन्तलोपाख्यानमें दुष्यन्तका कण्वके तपोवनमें जाना, वहां विश्वामित्रसे मेनकामें उत्पन्न शकुन्तलासे दुष्यन्तका गान्धर्व विवाह, कण्वका शकुन्तलाको दुष्यन्तके पास भेजना, दुष्यन्तका अस्वीकार करना, शकुन्तलासे भरतकी उत्पत्ति तथा शकुन्तला-दुष्यन्तका मिलन आदिका वर्णन है।

ययाति उपाख्यानमें ययातिका असुरगुरु शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी एवं असुरराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठासे विवाह, देवयानीसे यदु और तुर्वसुकी तथा शर्मिष्ठासे द्रुह्यु, अनु और पुरुकी उत्पत्ति, ययातिका अपने पुत्रोंसे युवावस्था मांगना, सबके मना कर देने पर शाप देना, पुरुके युवावस्था देने पर उसे राज्याधिकारी बनाना, अन्तमें विषयभोगमें तृप्ति न देखकर पुरुको राज्य देकर ययातिका तपस्याके लिए वन चले जानेका वर्णन है।

संभवपर्वमें पाण्डुके पांच पुत्रों एवं धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी उत्पत्तिका वर्णन है। इन सबमें बलवान् भीमका अन्य कौरवोंको सताना, भीमको मारनेके लिए दुर्योधन और शकुनिके द्वारा उपाय, पाण्डुकी मृत्यु, माद्रीका सती होना, द्रोणाचार्यकी कथा, एकलव्यकी कथा, अर्जुनकी प्रशंसा, अर्जुनके द्वारा गुरुदक्षिणाके रूपमें द्रुपदको पकड़कर लाना, द्रुपदका संताप, आदिका वर्णन है।

×

जातुगृहदाहपर्वमें पाण्डवोंकी वारणावत यात्रा, वहां दुर्योधनका अपने मंत्री पुरोचनको भेजकर लाक्षागृह बनवाना, उसमें पाण्डवोंका ठहराना, विदुर द्वारा पहले ही पाण्डवोंका सावधान कर देना, सुरंग खोदकर जलनेसे बच निकलना, आदि बातोंका वर्णन है।

हिडिम्ब वधपर्वमें वारणावतके लाक्षागृहसे बचकर निकलने पर सभी पाण्डवों और कुन्तीका एक वनमें रहना, यहां अपने भाई हिडिम्बके भेजे जानेपर हिडिम्बाका आना, भीमसेन पर उसका मोहित होना, तब स्वयं हिडिम्बका आना, भीमका उससे युद्ध होकर उसका मारा जाना, हिडिम्बाकी भीमसे विवाहकी प्रार्थना, कुन्तीकी आज्ञा पर भीमका हिडिम्बाके साथ विवाह और घटोत्कचकी उत्पत्तिका वर्णन है।

बकवधपर्वमें पाण्डवों और कुन्तीका घूमते घामते एकचक्रा नगरीमें जाना, वहां एक ब्राह्मणके यहां छिपकर रहना, एक दिन उस ब्राह्मण परिवारका रोदन सुनकर कुन्तीका जाकर पूछना, ब्राह्मणके द्वारा बकासुरके भोजनादिका वर्णन, कुन्तीका भीमको भेजनेका आग्रह करना, भीमका भोजनसामग्री लेकर बकासुरके पास जाना, बकासुरके साथ भीमका युद्ध और बकासुरके मारे जानेका वर्णन है।

चैत्ररथपर्वमें मार्गमें जाते हुए पाण्डवोंका जलमें गन्धर्वियोंके साथ विहार करते हुए गन्धर्वराज चित्ररथका देखकर क्रोधित होना, अर्जुनसे युद्ध और चित्ररथका प्रसन्न होकर अर्जुनको सहायता देना आदिका वर्णन है।

वसिष्ठोपाख्यानमें राजा विश्वामित्रका ससैन्य वसिष्ठके आश्रममें आना, वसिष्ठका आदर सत्कार करना, आश्रममें विश्वामित्रका कामधेनुको देखकर उसे मांगना, वसिष्ठका इन्कार कर देना, क्रुद्ध होकर विश्वामित्रका आश्रमपर आक्रमण करके उसे उजाड़ देना, गायको जबर्दस्ती लेजानेका प्रयास, गायके द्वारा सेनाकी उत्पत्ति, विश्वामित्रकी सेनासे युद्ध और विश्वामित्रका पराभव, ब्रह्मतेज देखकर विश्वामित्रका शस्त्रत्याग करके तपस्या करके ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्ति करना आदिका वर्णन है।

द्रौपदी स्वयंवर पर्वमें एकचक्रा नगरीमें पाण्डवोंके सामने एक ब्राह्मणके द्वारा द्रौपदी और उसके भाई धृष्टद्युम्नका यज्ञसे उत्पत्तिकी कथा सुनाना, धृष्टद्युम्नको प्राप्त करनेके पीछे राजा द्रुपदका उद्देश्य, द्रोणाचार्यको मारनेवाले पुत्रको पानेकी इच्छासे द्रुपदका यज्ञ करना, द्रौपदीकी सुन्दरताका वर्णन, उसके स्वयंवरकी सूचना देकर पाण्डवोंको उस [illegible]रमें जानेकी सलाह देना, पांचाल नगरमें जाकर पाण्डवोंक[illegible] कुम्हारके घर जाकर ब्राह्मणके छद्मवेषमें रहना, [illegible]रमें अर्जुन द्वारा लक्ष्यवेध, द्रौपदीका अर्जुनको वरमाला[illegible] देखकर राजाओंका क्रोधित होकर द्रुपदपर आक्रमण[illegible] अर्जुनसे दुर्योधन, कर्ण आदिका युद्ध एवं कर्णका [illegible]व, अर्जुनका द्रौपदीके साथ अपने घर आना, कुन्तीको [illegible]की सूचना देना, कुन्तीके द्वारा पांचों पाण्डवोंके द्वारा [illegible] आज्ञा, धृष्टद्युम्नके द्वारा पाण्डवोंकी पहचान, द्रुपदका [illegible] होना, व्यास द्वारा द्रौपदीको पांच पतियोंके विधानकी [illegible] सुनाना और पांचों पाण्डवोंसे द्रौपदीके विवाहका व[illegible]

विदुरागमनपर्वमें पाण्डवोंको जीवित दशामें [illegible] धृतराष्ट्र, दुर्योधन आदिका दुःखी होना, विदुरका [illegible] होना, वृद्धोंके समझानेपर धृतराष्ट्रका इन्द्रप्रस्थका प्रा[illegible] स्वीकार करना, पाण्डवोंको बुला लानेके लिए विदुरको [illegible] पाण्डवोंका हस्तिनापुरमें आनेका वर्णन है।

राज्यलम्भपर्वमें धृतराष्ट्रके द्वारा इन्द्रप्रस्थका प्रदा[illegible] युधिष्ठिरके द्वारा स्वीकार करके इन्द्रप्रस्थको अपनी रा[illegible] बनानेका वर्णन है।

सुन्दोपसुन्दोपाख्यानमें नारदका आकर पांचों भा[illegible] व्यवहारकी बातें बताना, सुन्द उपसुन्द दो असुर भा[illegible] वर पाकर लोकोंको सताना, डर कर देवोंका ब्रह्माकी [illegible] जाना, ब्रह्माके आदेशपर विश्वकर्माका तिलोत्तमा ना[illegible] सुन्दरीका निर्माण, सुन्दरीको देखकर सुन्दउपसुन्द [illegible] स्पर युद्ध एवं दोनोंके मारे जानेका वर्णन है।

अर्जुन वनवासपर्वमें नारदके समझानेपर पांचों पा[illegible] शर्त निश्चित करना कि यदि द्रौपदी किसी साथ बैठी [illegible] उस समय यदि कोई दूसरा पाण्डव उनके साम[illegible] जाए, तो वह प्रायश्चित्तके रूपमें बारह वर्षके लिए [illegible] करे, युधिष्ठिरका द्रौपदीके साथ बैठना, ब्राह्मणकी [illegible] चुराया जाना, गाय छुड़ानेके लिए अर्जुनका शस्त्र लेने [illegible] युधिष्ठिरके कमरेमें घुसना, चोरोंसे गाय छुड़ा लान[illegible] प्रायश्चित्तके रूपमें युधिष्ठिरकी आज्ञासे वनके लिए [illegible] प्रस्थान, वनमें अर्जुनका नागलोककी कन्या उलूपीसे स[illegible] चित्रांगदासे समागम, बभ्रुवाहनकी उत्पत्ति और [illegible] कारण जलचर योनिको प्राप्त हुए पांच अप्सराओंका [illegible] आदिका वर्णन है।

सुभद्राहरणपर्वमें घूमते घामते अर्जुनका प्रभासतीर्थमें गमन, श्रीकृष्णका वहां आकर अर्जुनसे मिलना, उन्हें द्वारकामें ले जाना, रैवतक पर्वतपर यादवोंका उत्सव, उसमें [illegible] कृष्णकी बहिन सुभद्राको देखकर [illegible] कृष्ण और युधिष्ठिरकी सहमतिसे अर्जुनका [illegible] ले जाना, बलराम आदि वृष्णियोंका क्रुद्ध होना, कृष्णका उन्हें समझाकर शान्त करना, फिर बलराम आदिका दहेज लेकर इन्द्रप्रस्थको जाना आदिका वर्णन है।

खाण्डवदाहपर्वमें कृष्ण और अर्जुनके पास अग्निका आना, और खाण्डववनको जलानेके लिए उसकी अर्जुन एवं कृष्णसे प्रार्थना एवं अग्निका अर्जुनको गाण्डीव धनुष, तूणीर और रथ तथा श्रीकृष्णको पांचजन्य शंख एवं चक्र प्रदान करना, अर्जुन एवं कृष्णका खाण्डवको जलाना, देवों और इन्द्रके साथ कृष्ण और अर्जुनका युद्ध, देवों एवं इन्द्रका पराभव, मयकी प्रार्थनापर अर्जुनके द्वारा उसे जीवन दान और अग्निका प्रसन्न होकर कृष्ण अर्जुनको वर देनेका वर्णन है।

इस प्रकार आदिपर्व समाप्त होता है।

आभार प्रदर्शन

आदिपर्वका हिन्दी अनुवाद पाठकोंके सामने प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है।

इसके प्रकाशनके लिए भारतसरकारके शिक्षा मंत्रालयने आर्थिक सहायता प्रदान करके जो महान् कार्य किया है, उसके लिए हम हृदयसे आभारी हैं।

[illegible] श्री सेठ गंगाप्रसादजी बिरला का भी उपकार नहीं भूल सकते। उन्होंने कागज देकर हमारी जो सहायता की है, उसके लिए हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

यह अनुवाद हम भाण्डारकर प्राच्यविद्याशोध संस्थान पूनाके द्वारा प्रकाशित महाभारतके संस्करणके आधार पर छाप रहे हैं इसके लिए उस संस्थाके अधिकारियोंकी अनुमति आवश्यक थी। उस संस्थाके डाइरेक्टर डॉ. रा. ना. दाण्डेकरसे हमने प्रार्थना की। उन्होंने भी हमारी प्रार्थनाको स्वीकार करके अपनी अनुमति देकर जो महान् उपकार किया उसके लिए हम डॉ. रा. ना. दाण्डेकर तथा उस संस्थाके अन्य अधिकारियोंके अत्यन्त आभारी हैं एवं अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इसके अतिरिक्त इस कार्यमें अन्योंके भी, जिन्होंने हमारी सहायता की, हम आभारी हैं।

अन्तमें, प्रकाशनके दौरान अत्यधिक सावधानी रखनेके बावजूद भी ग्रंथमें जो त्रुटियां रह गई हों, तदर्थ हम पाठकोंसे सहानुभूतिकी कामना करते हैं।

स्वाध्याय-मण्डल, पारडी
[जि. बलसाड] (गुजरात)

पं. श्री. दा. सातवलेकर
प्रधान सम्पादक

आदि पर्व

ॐ

महाभारत

आदिपर्व।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ गणोंके ईशके लिये नमस्कार हो।

ॐ नरोत्तम नारायण, नर और देवी सरस्वतीको प्रणाम करके जयकी घोषणा करनी चाहिये ॥

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सूतः पौराणिको
नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ॥ १ ॥

एक समय लोमहर्षणके पुत्र सूतवंशी, पौराणिक उग्रश्रवा नैमिषारण्यमें कुलके स्वामी श्री शौनकजीके द्वादशवार्षिक--यज्ञमें दीक्षित ॥ १ ॥

समासीनानभ्यगच्छद्ब्रह्मर्षीन् संशितव्रतान्।
विनयावनतो भूत्वा कदाचित् सूतनन्दनः ॥ २ ॥

परम सुखसे बैठे हुए तथा व्रतसे तपे हुए बडे बडे ऋषियोंके पास विनयसे नम्र होकर जा पहुंचे ॥ २ ॥

तमाश्रममनुप्राप्तं नैमिषारण्यवासिनः ।
चित्राः श्रोतुं कथास्तत्र परिवव्रुस्तपस्विनः ॥ ३ ॥

नैमिषारण्यमें रहनेवाले उन ऋषियोंके आश्रममें उग्रश्रवाके पहुंचनेपर, तपस्वी लोग अद्भुत कथा सुननेके लिये वहां आकर उनको चारों ओरसे घेरकर बैठ गए ॥ ३ ॥

अभिवाद्य मुनींस्तांस्तु सर्वानेव कृताञ्जलिः ।
अपृच्छत्स तपोवृद्धिं सद्भिश्चैवाभिनन्दितः ॥ ४ ॥

सज्जनों द्वारा पूजित होकर सूत–पुत्रने उन सब मुनि और तपस्वियोंको प्रणाम करके दोनों हाथ जोडकर उनकी तपोवृद्धिका समाचार पूछा ॥ ४ ॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव तपस्विषु ।
निर्दिष्टमासनं भेजे विनयाल्लोमहर्षणिः ॥ ५ ॥

उसके बाद उन सब तपस्वियोंके बैठनेके पश्चात् लोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवा नम्रभावसे अपने लिये बताए गए आसनपर आ विराजे ॥ ५ ॥

सुखासीनं ततस्तं तु विश्रान्तमुपलक्ष्य च ।
अथापृच्छदृषिस्तत्र कश्चित्प्रस्तावयन्कथाः ॥ ६ ॥

उन्हें सुखसे बैठे हुए और स्वस्थचित्त देखकर किसी ऋषिने कथाका प्रस्ताव करते हुए पूछा ॥ ६ ॥

कुत आगम्यते सौते क्व चायं विहृतस्त्वया ।
कालः कमलपत्राक्ष शंसैतत्पृच्छतो मम ॥ ७ ॥

हे कमलकी पंखुडियोंके समान आंखोंवाले सूत–पुत्र ! इस समय आपका आना कहांसे हुआ और अबतक आप कहां कहां घूमे ? यह सब वृत्तान्त पूछनेवाले मुझसे कहिए ॥ ७ ॥

सूत उवाच

जनमेजयस्य राजर्षेः सर्पसत्रे महात्मनः ।
समीपे पार्थिवेन्द्रस्य सम्यक्पारिक्षितस्य च ॥ ८ ॥

सूत बोले– हे चिरञ्जीव महर्षियो ! महात्मा, राजर्षि, राजाओंमें इन्द्रके सदृश तथा परीक्षितके पुत्र जनमेजयके सर्पयज्ञमें ॥ ८ ॥

कृष्णद्वैपायनप्रोक्ताः सुपुण्या विविधाः कथाः ।
कथिताश्चापि विधिवद्या वैशंपायनेन वै ॥ ९ ॥

वैशंपायन मुनिने वेदव्यास महाराजके द्वारा कही गई जो भांति–भांतिकी मनोहर पुण्य–कथायें विधिपूर्वक सुनाई थीं ॥ ९ ॥

श्रुत्वाहं ता विचित्रार्था महाभारतसंश्रिता।
बहूनि संपरिक्रम्य तीर्थान्यायतनानि च ॥ १० ॥

अपूर्व अर्थोंसे भरी हुई उन सब महाभारतीय कथाओंको सुन लेनेके पश्चात् नाना तीर्थ और अनेक देशोंमें घूमघाम कर मैं ॥ १० ॥

समन्तपञ्चकं नाम पुण्यं द्विजनिषेवितम् ।
गतवानस्मि तं देशं युद्धं यत्राभवत्पुरा ।
पाण्डवानां कुरूणां च सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ ११ ॥

उस समन्तपञ्चक नामक पवित्र स्थानपर पहुंचा, जहां ब्राह्मण लोग रहते हैं और जहां पहिले कौरव, पाण्डव और दूसरे सब राजाओंमें लडाई हुई थी ॥ ११ ॥

दिदृक्षुरागतस्तस्मात्समीपं भवतामिह ।
आयुष्मन्तः सर्वे एव ब्रह्मभूता हि मे मताः ॥ १२ ॥

वहांसे आप लोगोंको देखनेकी इच्छासे आपके पास यहां आया हूं। हे दीर्घायुवाले ऋषियो ! मैं आप सब लोगोंको ब्रह्म ही मानता हूं ॥ १२ ॥

अस्मिन्यज्ञे महाभागाः सूर्यपावकवर्चस ।
कृताभिषेकाः शुचयः कृतजप्या हुताग्नयः ।
भवन्त आसते स्वस्था ब्रवीमि किमहं द्विजाः ॥ १३ ॥

सूर्य और अग्निके समान तेजोमय, महान् भाग्यवाले आप लोग इस यज्ञमें अभिषिक्त हुए हैं और नहा धोकर शुद्ध होकरके, जप करके तथा अग्नियोंमें आहुति देकर आसनोंपर सुखसे बैठे हैं; अतः हे ब्राह्मणो ! क्या मैं ॥ १३ ॥

पुराणसंश्रिताः पुण्याः कथा वा धर्मसंश्रिताः ।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥ १४ ॥

इसी समय पुराणोंकी धर्मयुक्त पवित्र कथा और नरेशों और महात्मा ऋषियोंका इतिहास सुनाऊं ॥ १४ ॥

ऋषय ऊचुः

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा ।
सुरैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव श्रुत्वा यदभिपूजितम् ॥ १५ ॥

ऋषियोंने कहा– महर्षि द्वैपायन जो पुराण कह गये हैं, जिसको सुनकर देवता और ब्रह्मर्षियोंने भी बडी प्रशंसा की है ॥ १५ ॥

तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वणः ।
सूक्ष्मार्थन्याययुक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च ॥ १६ ॥

उस कथाओंमें श्रेष्ठ, विचित्रपद और पर्वयुक्त, सूक्ष्मार्थ न्यायसे युक्त तथा वेदार्थ से सुशोभित ॥ १६ ॥

भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम् ।
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम् ॥ १७ ॥

महाभारतके इतिहासकी पुण्यदायक, अनेक ग्रंथोंके अर्थसे युक्त, उत्तम संस्कारोंसे युक्त, ब्र द्वारा कही गई तथा अनेक शास्त्रोंके सारसे युक्त कथाको ॥ १७ ॥

जनमेजयस्य यां राज्ञो वैशंपायन उक्तवान् ।
यथावत्स ऋषिस्तुष्ट्या सत्रे द्वैपायनाज्ञया ॥ १८ ॥

राजा जनमेजयके यज्ञमें महर्षि द्वैपायनकी आज्ञासे ऋषि वैशम्पायनने प्रसन्न मनसे ठीक कह सुनाया था ॥ १८ ॥

वेदैश्चतुर्भिः समितां व्यासस्याद्भुतकर्मणः ।
संहितां श्रोतुमिच्छामो धर्म्यां पापभयापहाम् ॥ १९ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले महाराज वेदव्यासकी रची हुई उस चारों वेदोंसे सम्मत पापभ हारी, धर्मसे युक्त संहिताको हम सुनना चाहते हैं ॥ १९ ॥

सूत उवाच

आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम् ॥ २० ॥

सूत बोले— विश्वके आदि पुरुष, ईश्वर, बहुतों द्वारा बुलाए जानेवाले तथा अनेकों प्रा द्वारा स्तुत्य, सत्य, अद्वितीय, अविनाशी, महान्, व्यक्त, अव्यक्त, सनातन ॥ २० ॥

असच्च सच्चैव च यद्विश्वं सदसतः परम् ।
परावराणां स्रष्टारं पुराणं परमव्ययम् ॥ २१ ॥

जिनका रचा हुआ विश्व असत्, सत् और सदसत्से भिन्न है; सब स्थूल और सूक्ष्म रचनेवाले परम पुराण, अविनाशी ॥ २१ ॥

मङ्गल्यं मङ्गलं विष्णुं वरेण्यमनघं शुचिम् ।
नमस्कृत्य हृषीकेशं चराचरगुरुं हरिम् ॥ २२ ॥

मंगलके देनेवाले और मंगलरूप, विश्वभरमें व्याप्त, उपासनायोग्य, पापरहित, शुद्ध, यों के अधीश और चराचरके गुरु हरिको प्रणाम करके ॥ २२ ॥

महर्षेः पूजितस्येह सर्वलोकैर्महात्मनः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यामिततेजसः ॥ २३ ॥

[illegible] महर्षि वेदव्यासका सम्पूर्ण मत [illegible] ॥ २३ ॥

आचख्युः कवयः केचित्सम्प्रत्याचक्षते परे ।
आख्यास्यन्ति तथैवान्ये इतिहासमिमं भुवि ॥ २४ ॥

किन्हीं किन्हीं कवियोंने भूमण्डलमें पहिले भी इस इतिहासको कहा है, अब भी कोई इसको कहते हैं, और आगे भी बहुतेरे कहेंगे ॥ २४ ॥

इदं तु त्रिषु लोकेषु महज्ज्ञानं प्रतिष्ठितम् ।
विस्तरैश्च समासैश्च धार्यते यद्द्विजातिभिः ॥ २५ ॥

अनन्त ज्ञानका देनेवाला यह इतिहास तीनों लोकोंमें प्रशंसित हुआ है, द्विजातियोंके लोग इसको संक्षेपमें और विस्तारपूर्वक धारण करते हैं ॥ २५ ॥

अलंकृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः ।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम् ॥ २६ ॥

यह महाभारत ग्रन्थ अच्छे सुललित शब्द और दिव्य श्रेष्ठ मनुष्योंके सदाचारोंसे सुशोभित तथा अनेक सुन्दर सुन्दर छन्द और वृत्तोंसे युक्त है, इसीलिये विद्वान् लोगोंको यह बहुत प्रिय है ॥ २६ ॥

निष्प्रभेऽस्मिन्निरालोके सर्वतस्तमसावृते ।
बृहदण्डमभूदेकं प्रजानां बीजमक्षयम् ॥ २७ ॥

प्रारंभमें घोर [illegible] और उजाले तथा [illegible] बिलकुल रहित इस लोकमें जीवोंके [illegible] अविनाशी [illegible] उत्पन्न हुआ ॥ २७ ॥

युगस्यादौ निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते ।
यस्मिंस्तच्छ्रूयते सत्यं ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम् ॥ २८ ॥

सृष्टिके आदिमें वह कारण रूप था, पण्डित लोग उसीको महान और दिव्य कहते हैं। सुना जाता है कि जिसमें प्रकाशमान् अविनाशी सनातन ॥ २८ ॥

अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम् ।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत्तत्सदसदात्मकम् ॥ २९ ॥

अद्भुत, अचिन्त्य, सर्वत्र व्याप्त, अव्यक्त, कारणरूप, सूक्ष्म, सत् और असत् रहता है ॥ २९ ॥

यस्मात्पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः।
ब्रह्मा सुरगुरुः स्थाणुर्मनुः कः परमेष्ठ्यथ ॥ ३० ॥

जिसमें सब लोकोंके एक पितामह, प्रभु, प्रजापति, ब्रह्मा, देवगुरु, स्थाणु, मनु, परमेष्ठी उत्पन्न हुए ॥ ३० ॥

प्राचेतसस्तथा दक्षो दक्षपुत्राश्च सप्त ये।
ततः प्रजानां पतयः प्राभवन्नेकविंशतिः ॥ ३१ ॥

साथ ही प्राचेतस, दक्ष और दक्षके सात पुत्र उनके पश्चात् इक्कीस प्रजापतिओंने जन्म लिया ॥ ३१ ॥

पुरुषश्चाप्रमेयात्मा यं सर्वऋषयो विदुः।
विश्वेदेवास्तथादित्या वसवोऽथाश्विनावपि ॥ ३२ ॥

वह अतर्क्य पुरुष जिसको सब ऋषि जानते हैं और विश्वेदेव, आदित्य, वसु, दो अश्विनी कुमार ॥ ३२ ॥

यक्षाः साध्याः पिशाचाश्च गुह्यकाः पितरस्तथा।
ततः प्रसूता विद्वांसः शिष्टा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ३३ ॥

यक्ष, साध्य, पिशाच, गुह्यक और पितर, विद्वान् तथा पवित्र ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए ॥ ३३

राजर्षयश्च बहवः सर्वैः समुदिता गुणैः।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा ॥ ३४ ॥

पश्चात् सब गुणोंसे सुशोभित, बहुतसे राजर्षि, जल, द्यु, पृथ्वी, वायु, आकाश, दिशा ॥ ३४

संवत्सरर्तवो मासाः पक्षाहोरात्रयः क्रमात्।
यच्चान्यदपि तत्सर्वं संभूतं लोकसाक्षिकम् ॥ ३५ ॥

वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष, दिन, रात्रि और सब दूसरे लौकिक पदार्थ क्रमसे रचे गये ॥ ३५

यदिदं दृश्यते किंचिद्भूतं स्थावरजंगमम्।
पुनः संक्षिप्यते सर्वं जगत्प्राप्ते युगक्षये ॥ ३६ ॥

स्थावर और जंगम और यह दृश्यमान् जगत् प्रलयकालके प्राप्त होनेपर फिर लुप्त जायगा ॥ ३६ ॥

यथर्तावृतुलिंगानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ ३७ ॥

जैसे वसन्त आदि हर ऋतुमें ऋतुओंके चिह्न प्रकट करनेवाले फूल आदि फूल कर, पूरे होने पर फिर गायब हो जाते हैं; वैसे ही युगके आरम्भमें सब पदार्थ रचे जा प्रलयकालमें फिर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

एवमेतदनाद्यन्तं भूतसंहारकारकम् ।
अनादिनिधनं लोके चक्रं संपरिवर्तते ॥ ३८ ॥

इसी भांति सब प्राणियोंको रचने और नाश करनेवाला अनादि अनन्त संसारचक्र विश्वमें सदा बदलता रहता है ॥ ३८ ॥

त्रयस्त्रिंशत्सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥ ३९ ॥

तेंतीस सहस्र, तेंतीस सौ और तेंतीस देवताओंकी संक्षेपसे यह सृष्टि है ॥ ३९ ॥

दिवस्पुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसुः ।
सविता स ऋचीकोऽर्को भानुराशावहो रविः ॥ ४० ॥

दिवस्पुत्र बृहद्भानु, चक्षुः, आत्मा, विभावसु, सविता, ऋचीक, अर्क, भानु, आशावह रवि ॥ ४० ॥

पुत्रा विवस्वतः सर्वे मह्यस्तेषां तथावरः ।
देवभ्राट् तनयस्तस्य तस्मात्सुभ्राडिति स्मृतः ॥ ४१ ॥

विवस्वान्, मह्य यह सब अदितिके पुत्र हुए । इनमें मह्य सबसे छोटे, उनके पुत्र देवभ्राट् और देवभ्राट्के पुत्र सुभ्राट् हुए ॥ ४१ ॥

सुभ्राजस्तु त्रयः पुत्राः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
दशज्योतिः शतज्योतिः सहस्रज्योतिरात्मवान ॥४२॥

सुभ्राट्के महाविद्वान् और अनेक पुत्रोंके जन्मदाता दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति नामक तीन पुत्र हुए ॥ ४२ ॥

दश पुत्रसहस्राणि दशज्योतेर्महात्मनः ।
ततो दशगुणाश्चान्ये शतज्योतेरिहात्मजाः ॥ ४३ ॥

महात्मा दशज्योतिके दश सहस्र, शतज्योतिके उससे भी दस गुना अर्थात् एक लक्ष ॥४३॥

भूयस्ततो दशगुणाः सहस्रज्योतिषः सुताः ।
तेभ्योऽयं कुरुवंशश्च यदूनां भरतस्य च ॥ ४४ ॥

और सहस्रज्योतिके उससे भी दस गुना अर्थात् दशलक्ष पुत्र उत्पन्न हुए; उन्हीं लोगोंसे कुरुवंश, यदुवंश, भरतवंश उत्पन्न हुए ॥ ४४ ॥

ययातीक्ष्वाकुवंशश्च राजर्षीणां च सर्वशः ।
संभूता बहवो वंशा भूतसर्गाः सविस्तराः ॥ ४५ ॥

ययातिवंश, इक्ष्वाकुवंश और दूसरे अनेक राजर्षिवंश उपजे और वे सब उपजे हुए वंश इस कालमें बहुत फैल गये हैं ॥ ४५ ॥

भूतस्थानानि सर्वाणि रहस्यं विविधं च यत्।
वेदयोगं सविज्ञानं धर्मोऽर्थः काम एव च ॥ ४६ ॥

सब भूतमात्रोंके स्थान, धर्म, अर्थ और कामके अनेक तरहके रहस्य, चारों वेद, योगशास्त्र विज्ञानशास्त्र ॥ ४६ ॥

धर्मकामार्थशास्त्राणि शास्त्राणि विविधानि च।
लोकयात्राविधानं च संभूतं दृष्टवानृषिः ॥ ४७ ॥

धर्म–काम–अर्थके शास्त्र तथा अन्य अनेक शास्त्र, लोगोंके व्यवहार चलानेके उपयोग अनेक शास्त्र महाराज वेदव्यास ऋषि जानते थे ॥ ४७ ॥

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम् ॥ ४८ ॥

वह संपूर्ण विषय, व्याख्यासहित सब इतिहास और अनेक भांतिकी कथाएं इस ग्रंथमें क हैं; सो वही सब विषय इस ग्रंथके लक्षण हैं ॥ ४८ ॥

विस्तीर्यैतन्महज्ज्ञानमृषिः संक्षेपमब्रवीत्।
इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् ॥ ४९ ॥

इस संसारमें विद्वान् संक्षेप और विस्तार दोनोंको पसन्द करते हैं, इसलिये महाराज वे व्यासने इस महान् ज्ञानको संक्षेपमें और विस्तारपूर्वक दोनों तरहसे कहा है ॥ ४९ ॥

मन्वादि भारतं केचिदास्तीकादि तथापरे।
तथोपरिचराद्यन्ये विप्राः सम्यगधीयते ॥ ५० ॥

भिन्न भिन्न पण्डित भिन्न भिन्न स्थानसे इस संहिताका आरंभ समझते हैं; कोई कोई वि इस महाभारतको मनुसे लेकर, कोई कोई आस्तीक पर्वसे और कोई कोई राजा उपरिच कथासे इसका आरंभ समझकर पढने लगते हैं ॥ ५० ॥

विविधं संहिताज्ञानं दीपयन्ति मनीषिणः।
व्याख्यातुं कुशलाः केचिद्ग्रन्थं धारयितुं परे ॥ ५१ ॥

ज्ञानी लोग अनेक उपायोंसे इस संहिताका ज्ञान प्रकाशित करते हैं। उनमें कोई कोई इसकी सुन्दर व्याख्या करते हैं और दूसरे कंठस्थ करके धारण करते हैं ॥ ५१ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण व्यस्य वेदं सनातनम्।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥ ५२ ॥

सत्यवतीपुत्र विद्वान् ब्रह्मर्षि व्यासने अपनी तपस्या और ब्रह्मचर्यके प्रभावसे सनातन वे विभाग कर इस पवित्र इतिहासको रचा है ॥ ५२ ॥

पराशरात्म[illegible] ब्रह्म[illegible] ।

मातुर्नियोगाद्धर्मात्मा गांगेयस्य च धीमतः ॥ ५३ ॥

अपनी माता और बुद्धिमान् गंगानन्दन भीष्मकी आज्ञासे [illegible]रके पुत्र, विद्वान्, ब्रह्मर्षि, धर्मात्मा और व्रतशील ॥ ५३ ॥

क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य कृष्णद्वैपायनः पुरा ।

त्रीनग्नीनिव कौरव्याञ्जनयामास वीर्यवान् ॥ ५४ ॥

वीर्यवान् कृष्ण द्वैपायनजीने पूर्वकालमें विचित्रवीर्यके क्षेत्र (पत्नी) में तीनों अग्निके समान तेजस्वी तीन कुरुवंशके पुत्र उपजाये थे ॥ ५४ ॥

उत्पाद्य धृतराष्ट्रं च पाण्डुं विदुरमेव च ।

जगाम तपसे धीमान्पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ५५ ॥

बुद्धिमान् वेदव्यास महाराज इस प्रकारसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर इन तीन सन्तानोंको जन्म देकर तपस्याके लिये फिर आश्रमको चले गये ॥ ५५ ॥

तेषु जातेषु वृद्धेषु गतेषु परमां गतिम् ।

अब्रवीद् भारतं लोके मानुषेऽस्मिन्महानृषिः ॥ ५६ ॥

आगे उन पुत्रोंके वृद्ध होकर परलोक सिधार जाने पर, महान् ऋषि वेदव्यासजीने मनुष्य लोकमें महाभारतको [illegible] किया ॥ ५६ ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥ ५७ ॥

[illegible] (जनमेजयके सर्पयज्ञके समयमें) [illegible] ब्राह्मण और स्वयं जनमेजयके बडी चाहके साथ महाभारत सुननेकी इच्छा दिखाने पर, श्री वेदव्यासजीने पासहीमें बैठे हुए अपने शिष्य श्री वैशम्पायनको ग्रन्थ सुनानेकी आज्ञा दी ॥ ५७ ॥

स सदस्यैः सहासीनः श्रावयामास भारतम् ।

कर्मान्तरेषु यज्ञस्य चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ ५८ ॥

नित्य यज्ञके कर्म पूरे होनेके बाद वैशम्पायन मुनि बार बार प्रेरित किए जानेपर सभामें सभ्योंके साथ बैठकर महाभारत सुनाने लगे ॥ ५८ ॥

विस्तरं कुरुवंशस्य गान्धार्या धर्मशीलताम् ।

क्षत्तुः प्रज्ञां धृतिं कुन्त्याः सम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥

भगवान् द्वैपायन ऋषिने इस महाभारत ग्रन्थमें कुरुवंशके विस्तारका, गान्धारीकी धर्मशीलताका, विदुरकी प्रज्ञाका और कुन्तीके धैर्यका सम्यक् रीतिसे वर्णन किया है ॥ ५९ ॥

वासुदेवस्य माहात्म्यं पाण्डवानां च सत्यताम् ।
दुर्वृत्तं धार्तराष्ट्राणामुक्तवान्भगवानृषिः ॥ ६० ॥

भगवान् ऋषिने श्रीकृष्णका माहात्म्य, पाण्डवोंकी सत्यता और धृतराष्ट्रपुत्रोंकी दुष्टता वर्णन की है ॥ ६० ॥

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥ ६१ ॥

चौवीस सहस्र श्लोकोंमें भारत संहिता रची थी; पंडितगण उपाख्यानसे रहित उन्हीं चौवीस सहस्र श्लोकों ही को 'भारत' कहा करते हैं ॥ ६१ ॥

ततोऽध्यर्धशतं भूयः संक्षेपं कृतवानृषिः ।
अनुक्रमणिमध्यायं वृत्तान्तानां सपर्वणाम् ॥ ६२ ॥

आगे वेदव्यासजीने संपूर्ण पर्व और वृत्तांतोंको संक्षेप कर डेढ सौ श्लोकोंमें अनुक्रमणिक अध्यायको रचा ॥ ६२ ॥

इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुकम् ।
ततोऽन्येभ्योऽनुरूपेभ्यः शिष्येभ्यः प्रददौ प्रभुः ॥ ६३ ॥

भगवान् द्वैपायनने पहिले इस भारतको अपने पुत्र शुकदेवको पढाया और उसके बाद योग्य शिष्योंको भी प्रदान किया ॥ ६३ ॥

नारदोऽश्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन् ।
गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः ॥ ६४ ॥

इसके बाद नारदजीने देवताओंको, असित देवलने पितरोंको और शुकदेवजीने ग यक्ष और राक्षसोंको ये सब श्लोक सुनाये थे ॥ ६४ ॥

दुर्योधनो मन्युमयो महाद्रुमः स्कन्धः कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः ।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी ॥ ६५

दुर्योधन मन्युमय अर्थात् अहंकारसे भरा पूरा महावृक्ष है; कर्ण उसका तना, शकुनी शाखा, दुःशासन उसके बढे चढे फल-फूल; और अज्ञानसे अन्धे, प्रज्ञा-रहित उसकी जड हैं ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः ।
माद्रीसुतौ पुष्पफले समृद्धे मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च ॥ ६

युधिष्ठिर धर्ममय महावृक्ष है; अर्जुन उसका तना, भीमसेन उसकी शाखा, न सहदेव उसके बढे-चढे फल-फूल और श्रीकृष्ण, वेद और ब्राह्मण उसकी जडें हैं

पाण्डुर्जित्वा बहून् देशान् युधा विक्रमणेन च ।
अरण्ये मृगयाशीलो न्यवसत्सजनस्तदा ॥ ६७ ॥

राजा पाण्डु युद्ध और विक्रमसे बहुत देश जीतकर वनमें शिकार खेलते हुए वनमें ही जाकर अपने आदमियोंके साथ बस गए ॥ ६७ ॥

मृगव्यवायनिधने कृच्छ्रां प्राप स आपदम् ।
जन्मप्रभृति पार्थानां तत्राचारविधिक्रमः ॥ ६८ ॥

भोगमें आसक्त मृगके मर जाने पर वे घोर विपत्तिमें पड गए थे। वनमें ही पाण्डवोंकी जन्मसे लेकर सब आचार विधियां क्रमसे की गईं ॥ ६८ ॥

मात्रोरभ्युपपत्तिश्च धर्मोपनिषदं प्रति ।
धर्मस्य वायोः शक्रस्य देवयोश्च तथाश्विनोः ॥ ६९ ॥

उस वनमें आपद्धर्मके अनुसार कुन्ती और माद्रीके गर्भमें धर्म, वायु, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार इन पांच देवताओंके वीर्यसे पाण्डवोंका जन्म हुआ ॥ ६९ ॥

तापसैः सह संवृद्धा मातृभ्यां परिरक्षिताः ।
मेध्यारण्येषु पुण्येषु महतामाश्रमेषु च ॥ ७० ॥

पाण्डव लोग पवित्र वनके भीतर बडे बडे तपस्वियोंके पुण्याश्रममें साधुओंके सहित कुन्ती और माद्रीसे रक्षित होने और बढने लगे ॥ ७० ॥

ऋषिभिश्च तदानीता धार्तराष्ट्रान् प्रति स्वयम् ।
शिशवश्चाभिरूपाश्च जटिला ब्रह्मचारिणः ॥ ७१ ॥

कुछ कालके बाद ऋषि लोग उन राजलक्षणोंसे सुशोभित जटाधारी, ब्रह्मचारी शिशुओंको स्वेच्छासे धृतराष्ट्र और उसके पुत्रोंके पास ले गये ॥ ७१ ॥

पुत्राश्च भ्रातरश्चेमे शिष्याश्च सुहृदश्च वः ।
पाण्डवा एत इत्युक्त्वा मुनयोऽन्तर्हितास्ततः ॥ ७२ ॥

उसके बाद " ये पाण्डुपुत्रगण तुम्हारे पुत्र, भ्राता, शिष्य और सुहृत् हैं । " यह कहकर मुनिगण वहांसे लौट गए ॥ ७२ ॥

तांस्तैर्निवेदितान्दृष्ट्वा पाण्डवान् कौरवास्तदा ।
शिष्टाश्च वर्णाः पौरा ये ते हर्षाच्चुक्रुशुर्भृशम् ॥ ७३ ॥

इस प्रकारसे पाण्डवोंको अर्पण कर मुनियोंके चले जाने पर, उन्हें देख देख कर साधु कौरव लोग और नाना जातिके पुरवासी हर्षसे बहुत कोलाहल करने लगे ॥ ७३ ॥

आहुः केचिन्न तस्यैते तस्यैत इति चापरे।
यदा चिरमृतः पाण्डुः कथं तस्येति चापरे ॥ ७४ ॥

कोई कोई बोले "यह पांडुके पुत्र नहीं हैं।" कोई कोई बोले "ये ही पाण्डुकी सन्तानें हैं" दूसरे लोग बोले "राजा पाण्डुको परलोक गये तो जब बहुत दिन हो चुके, तब उनके पुत्र कहांसे उपजे?" ॥ ७४ ॥

स्वागतं सर्वथा दिष्ट्या पाण्डोः पश्याम संततिम्।
उच्यतां स्वागतमिति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ ७५ ॥

उस समय सर्वत्र पुरवासियोंका यही शब्द सुनाई देने लगा; कि "आज हमारा आना सब प्रकार शुभ निकला; क्योंकि सौभाग्यवश पाण्डुपुत्रोंका दर्शन हुआ; अतः उनका स्वागत करो" ॥ ७५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिशः सर्वा विनादयन्।
अन्तर्हितानां भूतानां निस्वनस्तुमुलोऽभवत् ॥ ७६ ॥

यह शब्द बन्द होजानेपर सभी दिशाओंको गुंजाती हुई हृदयके अन्दर स्थित प्राणियों अर्थात् देवोंकी महान् आवाज हुई ॥ ७६ ॥

पुष्पवृष्टिः शुभा गन्धाः शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनाः।
आसन् प्रवेशे पार्थानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ७७ ॥

पृथाके पुत्र अर्थात् पाण्डवोंके नगरमें पहुंचते ही फूलोंकी वृष्टि, सुगंधका संचार, शंख और नगाडोंकी ध्वनि होने लगी। यह सब बातें आश्चर्योत्पादक थीं ॥ ७७ ॥

तत्प्रीत्या चैव सर्वेषां पौराणां हर्षसंभवः।
शब्द आसीन्महांस्तत्र दिवस्पृक्कीर्तिवर्धनः ॥ ७८ ॥

उस आनंदसे सभी पुरवासियोंकी कीर्ति बढानेवाली और आकाशतक पहुंचती हुई हर्षध्वनि उत्पन्न हुई ॥ ७८ ॥

तेऽप्यधीत्याखिलान्वेदाञ्शास्त्राणि विविधानि च।
न्यवसन्पाण्डवास्तत्र पूजिता अकुतोभयाः ॥ ७९ ॥

पाण्डव भी नाना शास्त्र और संपूर्ण वेद पढ कर तथा सब तरहसे निर्भय होकर बडे आदर सन्मानसे वहां रहने लगे ॥ ७९ ॥

युधिष्ठिरस्य शौचेन प्रीताः प्रकृतयोऽभवन्।
धृत्या च भीमसेनस्य विक्रमेणार्जुनस्य च ॥ ८० ॥

प्रजा युधिष्ठिरके शुद्ध आचार, भीमसेनके धैर्य और अर्जुनके विक्रमसे बहुत प्रसन्न हुई ॥ ८० ॥

गुरुशुश्रूषया कुन्त्या यमयोर्विनयेन च ।
तुतोष लोकः सकलस्तेषां शौर्यगुणेन च ॥ ८१ ॥

नकुल और सहदेवकी नम्रता और कुन्तीकी गुरुसेवासे विशेष कर पांचों भाईकी शूरतासे सब लोगोंको प्रसन्नता हुई ॥ ८१ ॥

समवाये ततो राज्ञां कन्यां भर्तृस्वयंवराम् ।
प्राप्तवानर्जुनः कृष्णां कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ ८२ ॥

बादमें पतिके लिए होनेवाले स्वयंवर स्थलमें अगणित राजाओंके एकत्रित होने पर अर्जुनने कठिन कर्मको करके उस राजपुत्री कृष्णाको जीत लिया ॥ ८२ ॥

ततः प्रभृति लोकेऽस्मिन्पूज्यः सर्वधनुष्मताम् ।
आदित्य इव दुष्प्रेक्ष्यः समरेष्वपि चाभवत् ॥ ८३ ॥

उसी समयसे वह अर्जुन इस लोकमें सभी धनुषधारियोंके लिए पूज्य हो गया और रणक्षेत्रमें भी वह सूर्यकी भांति कठिनतासे देखने योग्य हो गया ॥ ८३ ॥

स सर्वान्पार्थिवाञ्जित्वा सर्वांश्च महतो गणान् ।
आजहारार्जुनो राज्ञे राजसूयं महाक्रतुम् ॥ ८४ ॥

आगे उस अर्जुनने सब राजाओं और बडे बडे शूरवीरोंको जीतकर राजा युधिष्ठिरके लिए राजसूय महायज्ञका आयोजन किया ॥ ८४ ॥

अन्नवान्दक्षिणावांश्च सर्वैः समुदितो गुणैः ।
युधिष्ठिरेण संप्राप्तो राजसूयो महाक्रतुः ॥ ८५ ॥

महाराज युधिष्ठिरने अपरिमित अन्न और दक्षिणा दान कर सब प्रकारके गुणोंसे युक्त श्रेष्ठ राजसूय यज्ञ किया ॥ ८५ ॥

सुनयाद्वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च ।
घातयित्वा जरासंधं चैद्यं च बलगर्वितम् ॥ ८६ ॥

उस यज्ञमें कृष्णकी उत्तम नीति और भीम तथा अर्जुनके बलके सहारे बलगर्वित जरासन्ध और अहंकारी शिशुपालका विनाश हुआ ॥ ८६ ॥

दुर्योधनं समागच्छन्नर्हणानि ततस्ततः ।
मणिकांचनरत्नानि गोहस्त्यश्वधनानि च ॥ ८७ ॥

दुर्योधनके पास नाना स्थानोंसे बहुमूल्य मणि, सुवर्ण, रत्न, गौ, हाथी, घोडे और धन आने लगे ॥ ८७ ॥

समृद्धां तां तथा दृष्ट्वा पाण्डवानां तदा श्रियम्।
ईर्ष्यासमुत्थः सुमहांस्तस्य मन्युरजायत ॥ ८८ ॥

तब पाण्डवोंका वह बढा चढा ऐश्वर्य देखकर दुर्योधनके हृदयमें ईर्ष्याजनित महान् क्रो
उत्पन्न हुआ ॥ ८८ ॥

विमानप्रतिमां चापि मयेन सुकृतां सभाम्।
पाण्डवानामुपहृतां स दृष्ट्वा पर्यतप्यत ॥ ८९ ॥

उस यज्ञमें मयदानवके द्वारा उत्तम प्रकारसे बनाये गए विमानके आकारवाली अपूर्व सभा
पाण्डवोंके हाथोंमें देखकर वह दुःखसे जलने लगा ॥ ८९ ॥

तत्रावहसितश्चासीत् प्रस्कन्दन्निव संभ्रमात्।
प्रत्यक्षं वासुदेवस्य भीमेनानभिजातवत् ॥ ९० ॥

उस सभामें दुर्योधनको चलते समय भ्रमवश गिरते देखकर भीमसेनने श्रीकृष्णचन्द्रके सन्
छोटे मनुष्यके समान अपमान करके उसकी बडी हंसी उडाई ॥ ९० ॥

स भोगान्विविधान्भुञ्जन्रत्नानि विविधानि च।
कथितो धृतराष्ट्रस्य विवर्णो हरिणः कृशः ॥ ९१ ॥

नाना प्रकारके रत्न और भांति भांतिके भोग भोगने पर भी दुर्योधन चित्त–पीडासे मलि
पीला और दुबला होने लगा। धृतराष्ट्रके निकट यह बात कही जाने पर ॥ ९१ ॥

अन्वजानात्ततो द्यूतं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य कोपः समभवन्महान् ॥ ९२ ॥

उस पुत्र प्रेमी राजा धृतराष्ट्रने जुआ खेलनेकी आज्ञा दी। यह सुनकर श्री वासुदेव कृष्ण
बडा क्रोध हो आया ॥ ९२ ॥

नातिप्रीतमनाश्चासीद्विवादांश्चान्वमोदत।
द्यूतादीननयान्घोरान्प्रवृद्धांश्चाप्युपैक्षत ॥ ९३ ॥

उन्होंने बडे असन्तोषके साथ उस झगडेमें अपनी संमति दी और जुआ आदि भयाव
और बढी हुई कुनीतियोंकी उपेक्षा कर दी ॥ ९३ ॥

निरस्य विदुरं द्रोणं भीष्मं शारद्वतं कृपम्।
विग्रहे तुमुले तस्मिन्नहन्क्षत्रं परस्परम् ॥ ९४ ॥

विदुर, द्रोणाचार्य, भीष्म और शरद्वतके पुत्र कृपाचार्यकी बात न मानकर आपसकी
घोर लडाईमें भिडे हुए क्षत्रियोंने आपसमें ही एक दूसरेको मार दिया ॥ ९४ ॥

जयत्सु पाण्डुपुत्रेषु श्रुत्वा सुमहदप्रियम् ।
दुर्योधनमतं ज्ञात्वा कर्णस्य शकुनेस्तदा ।
धृतराष्ट्रश्चिरं ध्यात्वा संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९५ ॥

पाण्डवोंकी जीत जानेके बाद उस अति अप्रिय वाणीको सुनकर और दुर्योधन कर्ण और शकुनिके मतको जानकर दर तक [illegible]ने [illegible]के पश्चात् धृतराष्ट्रने संजयसे कहा ॥ ९५ ॥

शृणु संजय मे सर्वं न मेऽसूयितुमर्हसि ।
श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान्प्राज्ञसम्मतः ॥ ९६ ॥

"हे संजय ! मैं सब वृत्तान्त कहता हूं, सुनो। तुम शास्त्रके ज्ञाता, मेधावी, बुद्धिमान् और पण्डितमण्डलीमें महाभाग्य हो; अतः मुझपर व्यर्थ दोष न लगाओ ॥ ९६ ॥

न विग्रहे मम मतिर्न च प्रीये कुरुक्षये ।
न मे विशेषः पुत्रेषु स्वेषु पाण्डुसुतेषु च ॥ ९७ ॥

युद्ध करनेके लिए कुछ मेरी सम्मति नहीं थी, और न मैं कुरुओंके क्षय होनेसे सन्तुष्ट हूं, अपने पुत्रों और पाण्डुके पुत्रोंमें मैंने कुछ भी भेद नहीं किया है ॥ ९७ ॥

वृद्धं मामभ्यसूयन्ति पुत्रा मन्युपरायणाः ।
अहं त्वचक्षुः कार्पण्यात् पुत्रप्रीत्या सहामि तत् ।
मुह्यन्तं चानुमुह्यामि दुर्योधनमचेतनम् ॥ ९८ ॥

मेरे ईर्ष्या और क्रोधसे भरे पुत्रगण मुझको वृद्ध जानकर मेरी बात मानते ही नहीं; मैं अंधा और दीन हूं; अतः पुत्र–स्नेहसे सब सह लेता हूं, अज्ञानी दुर्योधनके मोहयुक्त होनेसे मैं भी मोहमें पडा हुआ हूं ॥ ९८ ॥

राजसूये श्रियं दृष्ट्वा पाण्डवस्य महौजसः ।
तच्चावहसनं प्राप्य सभारोहणदर्शने ॥ ९९ ॥

राजसूय यज्ञमें महा [illegible] युधिष्ठिरका अपार ऐश्वर्य देखकर और सभामें जानेके समय उस हंसीको देखकर ॥ ९९ ॥

अमर्षितः स्वयं जेतुमशक्तः पाण्डवान्रणे ।
निरुत्साहश्च सम्प्राप्तुं श्रियमक्षत्रियो यथा ।
गान्धारराजसहितश्छद्मद्यूतममन्त्रयत् ॥ १०० ॥

उसे सह न सकनेके कारण और युद्धमें स्वयं पाण्डवोंको जीतनेमें असमर्थ होकर तथा अक्षत्रियके समान राजलक्ष्मीको पाने उत्साहरहित होकर दुर्योधनने गान्धारके राजा शकुनीकी सहायतासे कपट जुएके लिए आमंत्रण दिया ॥ १०० ॥

तत्र यद्यत्तथा ज्ञातं मया संजय तच्छृणु ।
श्रुत्वा हि मम वाक्यानि बुद्ध्या युक्तानि तत्त्वतः ।
ततो ज्ञास्यसि मां सौते प्रज्ञाचक्षुषमित्युत ॥ १०१ ॥

हे सूत-पुत्र! मेरे वह सब उस कालमें मैं जो कुछ जान सका था; हे संजय! वह सुनो। बुद्धियुक्त वचनोंको तत्त्वपूर्वक सुनकर मुझे सच्चा प्रज्ञाचक्षु जानोगे ॥ १०१ ॥

यदाश्रौषं धनुरायम्य चित्रं विद्धं लक्ष्यं पातितं वै पृथिव्याम् ।
कृष्णां हृतां पश्यतां सर्वराज्ञां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०२ ॥

"जब मैंने सुना, कि अर्जुनने विचित्र धनुष चढ़ाकर लक्ष्यका भेद करके उसे धरती पर गिरा दिया है, और वह सब राजाओंके देखते देखते द्रौपदीको हर लाया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०२ ॥

यदाश्रौषं द्वारकायां सुभद्रां प्रसह्योढां माधवीमर्जुनेन ।
इन्द्रप्रस्थं वृष्णिवीरौ च यातौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०३ ॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनने द्वारकामें जाकर माधव—कृष्णकी छोटी बहिन सुभद्रासे बलपूर्वक विवाह किया और उसपर भी श्री बलराम और श्रीकृष्णचंद्र दोनों इन्द्रप्रस्थमें आये हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०३ ॥

यदाश्रौषं देवराजं प्रवृष्टं शरैर्दिव्यैर्वारितं चार्जुनेन ।
अग्निं तथा तर्पितं खाण्डवे च तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०४ ॥

जब मैंने सुना, कि खाण्डव दाहके समय देवराज इन्द्रके जल बरसाने पर अर्जुनने दिव्य बाणोंसे वृष्टिको रोककर अग्निको प्रसन्न किया, तो हे संजय! तभीसे मैंने जयकी आशा नहीं की ॥ १०४ ॥

यदाश्रौषं हृतराज्यं युधिष्ठिरं पराजितं सौबलेनाक्षवत्याम् ।
अन्वागतं भ्रातृभिरप्रमेयैस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०५ ॥

जब मैंने सुना, कि सुबलपुत्र शकुनिने युधिष्ठिरको जुएमें हराकर उसका राज्य हर लिया है, और उस पर भी, बड़े प्रतापी भाई लोग युधिष्ठिरके आज्ञाधीन बनकर उसके पीछे चल रहे हैं, हे संजय! तो भी मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०५ ॥

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०६ ॥

जब मैंने सुना, कि रोती-पीटती; एक—वस्त्र—पहिने हुई, दुःखमें डूबी, रजस्वला, सनाथ द्रौपदी अनाथकी भांति सभामें ले जाई गई, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०६ ॥

यदाश्रौषं विविधास्तात चेष्टा धर्मात्मनां प्रस्थितानां वनाय।
ज्येष्ठप्रीत्या क्लिश्यतां पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०७ ॥
जब मैंने सुना, कि धार्मिक पाण्डव लोग वनमें जाकर बडे भाईको प्रसन्न रखनेके लिये अनेक कष्ट उठाते हुए बडी बडी चेष्टा कर रहे हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा छोड दी ॥ १०७ ॥

यदाश्रौषं स्नातकानां सहस्रैरन्वागतं धर्मराजं वनस्थम्।
भिक्षाभुजां ब्राह्मणानां महात्मनां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०८ ॥
जब मैंने सुना, कि सहस्रों स्नातक और भिक्षासे जीविका चलानेवाले ब्राह्मणगण और अन्य महात्मा वनमें धर्मराजके पीछे चले गए हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने जयकी आशा छोड दी ॥ १०८ ॥

यदाश्रौषमर्जुनो देवदेवं किरातरूपं त्र्यम्बकं तोष्य युद्धे।
अवाप तत् पाशुपतं महास्त्रं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १०९ ॥
जब मैंने सुना, कि अर्जुनने किरात-रूप-धारी देवाधिदेव महादेवको युद्धमें प्रसन्न कर पाशुपत नामक महा अस्त्र पा लिया है; तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १०९ ॥

यदाश्रौषं त्रिदिवस्थं धनंजयं शक्रात्साक्षाद्दिव्यमस्त्रं यथावत्।
अधीयानं शंसितं सत्यसंधं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११० ॥
जब मैंने सुना, कि प्रशंसा योग्य और सत्यप्रेमी धनंजय देवलोकमें जाकर साक्षात् इन्द्रसे विधिपूर्वक दिव्य अस्त्र सीख रहा है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११० ॥

यदाश्रौषं वैश्रवणेन सार्धं समागतं भीममन्यांश्च पार्थान्।
तस्मिन्देशे मानुषाणामगम्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १११ ॥
जब मैंने सुना, कि भीम और दूसरे पांडुपुत्रोंने मनुष्योंके न जाने योग्य देशमें जाकर कुबेरसे भेंट की; तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १११ ॥

यदाश्रौषं घोषयात्रागतानां बन्धं गन्धर्वैर्मोक्षणं चाऽर्जुनेन।
स्वेषां सुतानां कर्णबुद्धौ रतानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११२ ॥
जब मैंने सुना, कि कर्णकी बुद्धिके अनुसार चलनेवाले मेरे पुत्रगण घोष यात्रामें जाकर गंधर्वोंके द्वारा पकडे जाकर फिर अर्जुनके द्वारा मुक्त कराए गए, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११२ ॥

यदाश्रौषं यक्षरूपेण धर्मं समागतं धर्मराजेन सूत।
प्रश्नानुक्तान्विब्रुवन्तं च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११३॥

हे सूत! जब मैंने सुना, कि धर्मने यक्षका स्वरूप धारण करके युधिष्ठिरके समीप आकर कुछ प्रश्न पूछे हैं और उसने ठीक ठीक उत्तर दे दिये, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११३॥

यदाश्रौषं मामकानां वरिष्ठान्धनंजयेनैकरथेन भग्नान्।
विराटराष्ट्रे वसता महात्मना तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११४॥

जब मैंने सुना, कि महात्मा पाण्डवोंके विराट–नगरमें रहते हुए एकरथी धनंजयने हमारी ओरके बडे बडे योद्धाओंको परास्त कर दिया, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११४॥

यदाश्रौषं सत्कृतां मत्स्यराज्ञा सुतां दत्तामुत्तरामर्जुनाय।
तां चार्जुनः प्रत्यगृह्णात्सुतार्थे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११५॥

जब मैंने सुना, कि मत्स्य–राजने अर्जुनको नाना अलंकारोंसे अलंकृत अपनी उत्तरा नामकी कन्या अर्पित की और अर्जुनने उस कन्याको अपने पुत्र अभिमन्युके निमित्त ग्रहण किया, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११५॥

यदाश्रौषं निर्जितस्याधनस्य प्रव्राजितस्य स्वजनात्प्रच्युतस्य।
अक्षौहिणीः सप्त युधिष्ठिरस्य तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११६॥

जब मैंने सुना, कि युधिष्ठिरने जीते जाने, निर्धन होने, देशसे निकाले जाने और अपने जनोंसे बिछुड जानेके बावजूद भी सात अक्षौहिणी सेना एकत्रित कर ली है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११६॥

यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके सदेति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११७॥

जब नारदसे मैंने सुना, कि श्रीकृष्णचन्द्र और अर्जुन नरनारायणके अवतार हैं और मैंने (नारदने) उनका ब्रह्मलोकमें भलीभांति दर्शन किया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११७॥

यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम्।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ ११८॥

जब मैंने सुना, कि यह भूलोक जिनके एक पदके समान है, वही मधुवंशी वासुदेव सब प्रकारसे पाण्डवोंके हित साधनेकी चेष्टा कर रहे हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११८॥

यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तं चात्मानं बहुधा दर्शयानं तदा नाशंसे विजयाय संजय　　॥ ११९ ॥

जब मैंने सुना, कि कर्ण और दुर्योधनने श्रीकृष्णचन्द्रको पकडनेका विचार किया, पर उन्होंने उनको अपना विश्वरूप दिखाया, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ ११९ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवे प्रयाते रथस्यैकामग्रतस्तिष्ठमानाम् ।
आर्तां पृथां सान्त्विता केशवेन तदा नाशंसे विजयाय संजय　　॥ १२० ॥

जब मैंने सुना, कि वासुदेवके जाते हुए अपने रथके सामने खडी हुई दुःखिता कुन्तीको उन्होंने अनेक प्रकारसे समझाया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२० ॥

यदाश्रौषं मंत्रिणं वासुदेवं तथा भीष्मं शान्तनवं च तेषाम् ।
भारद्वाजं चाशिषोऽनुब्रुवाणं तदा नाशंसे विजयाय संजय　　॥ १२१ ॥

जब मैंने सुना, कि वासुदेव और शान्तनु-पुत्र भीष्म दोनों उन पाण्डवोंके मंत्री बन गए हैं और भारद्वाज द्रोण उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२१ ॥

यदाश्रौषं कर्ण उवाच भीष्मं नाहं योत्स्ये युध्यमाने त्वयीति ।
हित्वा सेनामपचक्राम चैव तदा नाशंसे विजयाय संजय　　॥ १२२ ॥

जब मैंने सुना, कि कर्ण भीष्मसे यह कहकर, कि "तुम युद्ध करोगे, तो मैं नहीं लडूंगा" सेनाको छोड कर चला गया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२२ ॥

यदाश्रौषं वासुदेवार्जुनौ तौ तथा धनुर्गाण्डिवमप्रमेयम् ।
त्रीण्युग्रवीर्याणि समागतानि तदा नाशंसे विजयाय संजय　　॥ १२३ ॥

जब मैंने सुना, कि वे दोनों श्रीकृष्ण, अर्जुन और अप्रमेय गाण्डीव धनुष्य, यह तीनों अत्यधिक वीर्यशाली पदार्थ एकसाथ मिल गये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२३ ॥

यदाश्रौषं कश्मलेनाभिपन्ने रथोपस्थे सीदमानेऽर्जुने वै ।
कृष्णं लोकान्दर्शयानं शरीरे तदा नाशंसे विजयाय संजय　　॥ १२४ ॥

जब मैंने सुना, कि रथारूढ अर्जुनके मोहयुक्त और विकल हो जानेपर श्रीकृष्णने उसको अपने शरीरमें चौदहों लोक दिखाये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२४ ॥

यदाश्रौषं भीष्ममभित्रकर्शनं निघ्नन्तमाजावयुतं रथानाम्।
नैषां कश्चिद्वध्यते दृश्यरूपस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२५॥
जब मैंने सुना, कि शत्रुनाशी भीष्म रणभूमिमें नित्य दश सहस्र रथियोंको नष्ट करके शत्रुओंमेंसे एक भी प्रसिद्ध पुरुषको मार नहीं सके, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जय आशा नहीं की ॥ १२५ ॥

यदाश्रौषं भीष्ममत्यन्तशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम्।
शिखण्डिनं पुरतः स्थापयित्वा तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२६।
जब मैंने सुना, कि अर्जुनने शिखण्डीको सामने खडाकर युद्धमें अपराजित महाशूरवीर भीष्म को मार दिया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२६

यदाश्रौषं शरतल्पे शयानं वृद्धं वीरं सादितं चित्रपुङ्खैः।
भीष्मं कृत्वा सोमकानल्पशेषांस्तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२७
जब मैंने सुना, कि वृद्धवीर भीष्म सोमक सेनाओंको प्रायः नष्ट होनेकी दशामें पहुँचाकर स्वयं बाणोंसे छेदे भेदे जाकर शरशय्यापर सो गए हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२७ ॥

यदाश्रौषं शान्तनवे शयाने पानीयार्थे चोदितेनार्जुनेन।
भूमिं भित्त्वा तर्पितं तत्र भीष्मं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १२८
जब मैंने सुना, कि भीष्मदेवके शरशय्यापर सोनेके बाद उनके द्वारा पीनेके जलके लिए कहे जानेपर अर्जुनने धरतीसे जल निकाल कर उनको प्रसन्न किया, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२८ ॥

यदाश्रौषं शुक्रसूर्यौ च युक्तौ कौन्तेयानामनुलोमौ जयाय।
नित्यं चास्माञ्श्वापदा व्याभषन्तस्तदा नाशंसे विजयाय संजय॥ १२९
जब मैंने सुना, कि इन्द्र और सूर्य पाण्डवोंको जय देनेके निमित्त उनके सहायक हैं और हिंसक जन्तुगण हमें देखकर चिल्लाते हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १२९ ॥

यदा द्रोणो विविधानस्त्रमार्गान्विदर्शयन् समरे चित्रयोधी।
न पाण्डवाञ्छ्रेष्ठतमान्निहन्ति तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३०
जब मैंने सुना, कि आश्चर्यरूपसे युद्ध करनेवाले द्रोणाचार्य रणभूमिमें अस्त्र शस्त्रके अनेक तरहके निपुणताके प्रकार दिखा करके भी पाण्डवपक्षके किसी भी श्रेष्ठ पुरुषको नहीं मारते, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३० ॥

यदाश्रौषं चास्मदीयान्महारथान्व्यवस्थितानर्जुनस्यान्तकाय ।
संशप्तकान्निहतानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३१ ॥

जब मैंने सुना कि हमारी ओरकी संशप्तक नामक सेनाके द्वारा अर्जुनको मारनेके लिये व्यूह रचने पर भी वह आप ही अर्जुनसे मारी गई है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३१ ॥

यदाश्रौषं व्यूहमभेद्यमन्यैर्भारद्वाजेनात्तशस्त्रेण गुप्तम् ।
भित्त्वा सौभद्रं वीरमेकं प्रविष्टं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३२ ॥

जब मैंने सुना, कि अद्वितीय वीर अभिमन्यु, शस्त्रधारी द्रोणाचार्यसे रक्षित और दूसरोंसे न भेदे-जानेवाले चक्रव्यूहको भेदकर अकेला ही उसमें प्रवेश कर गया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३२ ॥

यदाभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्त तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३३ ॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनका वध करनेमें अशक्त होकर महारथी योद्धा बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेर करके मारकर आनन्दित हो रहे हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३३ ॥

यदाश्रौषमभिमन्युं निहत्य हर्षान्मूढान् क्रोशतो धार्तराष्ट्रान् ।
क्रोधं मुक्तं सैंधवे चार्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३४ ॥

जब मैंने सुना, कि अभिमन्युको मारकर हर्षसे मोहित हो शोर मचानेवाले धृतराष्ट्र पुत्रोंको देखकर अर्जुनने अपना क्रोध सिन्धुराज जयद्रथ पर निकाला है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३४ ॥

यदाश्रौषं सैन्धवार्थे प्रतिज्ञां प्रतिज्ञातां तद्वधायार्जुनेन ।
सत्यां निस्तीर्णां शत्रुमध्ये च तेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥१३५॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनने सिन्धुराज जयद्रथको मारनेकी प्रतिज्ञा की है, और वह जयद्रथ वधकी प्रतिज्ञा करके शत्रुओंके बीचमें भी उस अपनी सत्य-प्रतिज्ञामें उत्तीर्ण हुआ है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३५ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तहये धनंजये मुक्त्वा हयानपाययित्वोपवृत्तान् ।
पुनर्युक्त्वा वासुदेवं प्रयातं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३६ ॥

जब मैंने सुना, कि अर्जुनके घोडोंके थकने पर श्रीकृष्ण उनको बंधनसे मुक्तकर जल पिला लेनेके पश्चात् फिर उन्हें जोत कर रथको हांक ले गये हैं, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३६ ॥

यदाश्रौषं वाहनेष्वाश्वसत्सु रथोपस्थे तिष्ठता गाण्डिवेन ।
सर्वान्योधान्वारितानर्जुनेन तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३७ ॥
जब मैंने सुना, कि घोडोंके थकके होने पर भी गाण्डीवधारी अर्जुनने अकेले रथपर रह-कर संपूर्ण वीरोंको हरा दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३७ ॥

यदाश्रौषं नागबलैर्दुरुत्सहं द्रोणानीकं युयुधानं प्रमथ्य ।
यातं वार्ष्णेयं यत्र तौ कृष्णपार्थौ तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३८ ॥
जब मैंने सुना, कि वृष्णिवंशी सात्यकि हाथियोंकी सेनाओंसे भी अपराजेय ऐसी द्रोणाचार्यकी सेनाको भी मथकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास जा पहुंचा है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३८ ॥

यदाश्रौषं कर्णमासाद्य मुक्तं वधाद्भीमं कुत्सयित्वा वचोभिः ।
धनुष्कोट्या तुद्य कर्णेन वीरं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १३९ ॥
जब मैंने सुना, कि कर्णने भीमको पाकर भी उसका वध न कर धनुषकी नोकसे सता करके तथा बुरे शब्दोंसे उसे झिडक कर ही लांछनपूर्वक छोड दिया, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १३९ ॥

यदा द्रोणः कृतवर्मा कृपश्च कर्णो द्रौणिर्मद्रराजश्च शूरः ।
अमर्षयन्सैन्धवं वध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४० ॥
जब मैंने सुना, कि द्रोणाचार्य, कृतवर्मा, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और वीरवर मद्र-राजशल्यने बदला लेनेमें अशक्त होकर सिन्धुराज जयद्रथके वधके दुःखको चुपचाप सह लिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४० ॥

यदाश्रौषं देवराजेन दत्तां दिव्यां शक्तिं व्यंसितां माधवेन ।
घटोत्कचे राक्षसे घोररूपे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४१ ॥
जब मैंने सुना, कि कृष्णने भयंकर रूपवाले घटोत्कच राक्षसपर देवराज इन्द्र द्वारा दी हुई दिव्य शक्तिको चलवा कर उसको व्यर्थ कर दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४१ ॥

यदाश्रौषं कर्णघटोत्कचाभ्यां युद्धे मुक्तां सूतपुत्रेण शक्तिम् ।
यया वध्यः समरे सव्यसाची तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४२ ॥
जब मैंने सुना, कि कर्ण और घटोत्कचके युद्धमें सूत-पुत्र कर्णने, जिससे युद्धमें अर्जुन मारा जानेवाला था, उसी दिव्य शक्तिको घटोत्कच पर चला दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४२ ॥

यदाश्रौषं द्रोणमाचार्यमेकं धृष्टद्युम्नेनाभ्यतिक्रम्य धर्मम्।
रथोपस्थे प्रायगतं विशस्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४३ ॥

जब मैंने सुना, कि अस्त्र छोड़कर [illegible] और रथपर बैठे हुए द्रोणाचार्यको धृष्टद्युम्नने धर्मका उल्लंघन करके मारा है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४३ ॥

यदाश्रौषं द्रौणिना द्वैरथस्थं माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये।
समं युद्धे पाण्डवं युध्यमानं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४४ ॥

सब लोगोंके सामने अश्वत्थामाके साथ समान-भावसे द्वैरथ युद्ध करते हुए माद्री पुत्र नकुलको जब मैंने सुना तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥१४४॥

यदा द्रोणे निहते द्रोणपुत्रो नारायणं दिव्यमस्त्रं विकुर्वन्।
नैषामन्तं गतवान्पाण्डवानां तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४५ ॥

जब मैंने सुना, कि द्रोणाचार्यके मारे जानेपर अश्वत्थामा दिव्य नारायण अस्त्र मारकर भी पाण्डवोंको मार नहीं सका, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥१४५॥

यदाश्रौषं कर्णमत्यंतशूरं हतं पार्थेनाहवेष्वप्रधृष्यम्।
तस्मिन्भ्रातॄणां विग्रहे देवगुह्ये तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४६ ॥

जब मैंने सुना, कि देव द्वारा छिपाए गए दोनों भाईयोंके युद्धमें अर्जुनने रणमें अत्यन्त शूरवीर और युद्धमें अपराजित [illegible] कर्णको नष्ट कर दिया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा छोड़ दी ॥ १४६ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रं कृपं च दुःशासनं कृतवर्माणमुग्रम्।
युधिष्ठिरं शून्यमधर्षयन्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४७ ॥

जब मैंने सुना, कि युधिष्ठिरने वीरवर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, दुःशासन और उग्र स्वभावी कृतवर्माको जीत लिया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४७ ॥

यदाश्रौषं निहतं मद्रराजं रणे शूरं धर्मराजेन सूत।
सदा संग्रामे स्पर्धते य स कृष्णं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४८ ॥

हे सूत! जब मैंने सुना, कि युद्धमें जो श्रीकृष्णचन्द्रसे भी सदा मुकाबला करते हैं ऐसे मद्रराज शल्य भी रणवीर युधिष्ठिरके द्वारा मार दिये गये हैं, तो हे संजय! तभसि मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १४८ ॥

यदाश्रौषं कलहद्यूतमूलं मायाबलं सौबलं पाण्डवेन।
हतं संग्रामे सहदेवेन पापं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १४९ ॥

जब मैंने सुना, कि पाण्डुपुत्र सहदेवने जुए और झगडेकी जड, पापिष्ठ और छली सु
पुत्र शकुनिको लडाईमें मार दिया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा
की ॥ १४९ ॥

यदाश्रौषं श्रान्तमेकं शयानं ह्रदं गत्वा स्तम्भयित्वा तदम्भः।
दुर्योधनं विरथं भग्नदर्पं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५० ॥

जब मैंने सुना, कि अकेला, टूटे हुए घमंडवाला रथरहित, थका-मांदा दुर्योधन ताल
जाकर जल रोककर उसीमें छिप गया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आ
नहीं की ॥ १५० ॥

यदाश्रौषं पांडवांस्तिष्ठमानान्गंगाह्रदे वासुदेवेन सार्धम्।
अमर्षणं धर्षयतः सुतं मे तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५१ ॥

जब मैंने सुना, कि पाण्डवगण श्रीकृष्णचंद्रके संग गंगाके तालाबके निकट खडे हो
असहनशील मेरे पुत्र दुर्योधनको लाञ्छन दे रहे हैं, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर ज
आशा नहीं की ॥ १५१ ॥

यदाश्रौषं विविधांस्तात मार्गान्गदायुद्धे मण्डलं संचरन्तम्।
मिथ्या हतं वासुदेवस्य बुद्धया तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५२ ॥

जब मैंने सुना, कि गदायुद्धमें नाना तरहके आश्चर्यकारक कौशल दिखाने-वाला दुर्यो
मण्डलाकारमें घूमते समय वासुदेवके परामर्शसे अन्याय रूपसे मार दिया गया, त
संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५२ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तैर्हतान्पांचालान्द्रौपदेयांश्च सुप्तान्।
कृतं बीभत्समयशस्यं च कर्म तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५३ ॥

जब मैंने सुना, कि अश्वत्थामा आदिने रात्रिमें सोये हुए पांचालों और द्रौपदीके पु
मारकर अति घृणित और अयशका कार्य किया है, तो हे संजय! तभीसे मैंने फिर ज
आशा नहीं की ॥ १५३ ॥

यदाश्रौषं भीमसेनानुयातेनाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम्।
क्रुद्धेनैषीकमवधीयेन गर्भं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५४ ॥

जब मैंने सुना, कि भीमको पुत्र-वधके कारण क्रोधसे अन्धे बनकर अपने पीछे दौडते
देखकर अश्वत्थामाने ऐषीक नामक परमास्त्र मारकर उत्तराका गर्भ नष्ट कर दिया है
हे संजय! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५४ ॥

संजयैवंगते प्राणांस्त्यक्तुमिच्छामि मा चिरम्।
स्तोकं ह्यपि न पश्यामि फलं जीवितधारणे ॥ १६१ ॥

'हे संजय! ऐसी दशामें मैं इसी समय विना विलम्ब किए प्राण छोड देना चाहता हूं, अपने इस जीवनको धारण करनेमें मैं कुछ भी फल नहीं देखता ॥ १६१ ॥

तं तथा वादिनं दीनं विलपन्तं महीपतिम्।
गावल्गणिरिदं धीमान् महार्थं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६२ ॥

इस प्रकार कहनेवाले तथा दीनभावसे विलाप करनेवाले उस राजा धृतराष्ट्रसे बुद्धिमान् संजय अर्थयुक्त यह वचन बोले ॥ १६२ ॥

श्रुतवानसि वै राज्ञो महोत्साहान् महाबलान्।
द्वैपायनस्य वदतो नारदस्य च धीमतः ॥ १६३ ॥

महाराज! आपने बुद्धिमान् नारद और वाग्मी वेदव्यासजीके मुखसे महान् उत्साहसे युक्त तथा महाबलशाली राजाओंके चरित्र सुने ही होंगे ॥ १६३ ॥

महत्सु राजवंशेषु गुणैः समुदितेषु च।
जातान्दिव्यास्त्रविदुषः शक्रप्रतिमतेजसः ॥ १६४ ॥

जो उत्तम राजवंशोंमें उत्पन्न, उत्तम गुणोंके कारण उन्नत, दिव्य दिव्य शस्त्रास्त्रोंको जाननेवाले और इन्द्रके समान अत्यधिक तेजवाले थे ॥ १६४ ॥

धर्मेण पृथिवीं जित्वा यज्ञैरिष्ट्वाप्तदक्षिणैः।
अस्मिँल्लोके यशः प्राप्य ततः कालवशं गताः ॥ १६५ ॥

जो धर्मसे पृथ्वीको जीतकर, दक्षिणावाले महान् महान् यज्ञ करके तथा इस संसारमें महान् यश प्राप्त कर कालके गालमें समा गए ॥ १६५ ॥

वैन्यं महारथं वीरं संजयं जयतां वरम्।
सुहोत्रं रन्तिदेवं च कक्षीवन्तं तथौशिजम् ॥ १६६ ॥

इनमेंसे महारथी वीर वैन्य, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ संजय, सुहोत्र और रंतिदेव, कक्षीवान्, औशिज ॥ १६६ ॥

बाह्लीकं दमनं शैब्यं शर्यातिमजितं जितम्।
विश्वामित्रममित्रघ्नमम्बरीषं महाबलम् ॥ १६७ ॥

बाल्हीक और दमन, शैब्य, शत्रुनाशी शर्याति, अजित, जित और विश्वामित्र, शत्रुनाशक महाबली अंबरीष ॥ १६७ ॥

PTO

यदाश्रौषं ब्रह्मशिरोऽर्जुनेन मुक्तं स्वस्तीत्यस्त्रमस्त्रेण शान्तम् ।
अश्वत्थाम्ना मणिरत्नं च दत्तं तदा नाशंसे विजयाय संजय ॥ १५५ ॥

जब मैंने सुना, कि अश्वत्थामाके द्वारा छोडे गए अर्जुनवधके निमित्त ब्रह्मशिरः नामक अस्त्रको अर्जुनने "स्वस्ति" अस्त्रसे रोक दिया है और अश्वत्थामाने उसको मणिरत्न दे दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५५ ॥

यदाश्रौषं द्रोणपुत्रेण गर्भे वैराट्या वै पात्यमाने महास्त्रे ।
द्वैपायनः केशवो द्रोणपुत्रं परस्परेणाभिशापैः शशाप ॥ १५६ ॥

जब मैंने सुना कि महास्त्रसे विराट–पुत्रीके गर्भको नष्ट करनेपर अश्वत्थामाको द्वैपायन और श्रीकृष्णचंद्र दोनोंने परस्पर विचार करके शाप दे दिया है, तो हे संजय ! तभीसे मैंने फिर जयकी आशा नहीं की ॥ १५६ ॥

शोच्या गान्धारी पुत्रपौत्रैर्विहीना तथा वध्वः पितृभिर्भ्रातृभिश्च ।
कृतं कार्यं दुष्करं पाण्डवेयैः प्राप्तं राज्यमसपत्नं पुनस्तैः ॥ १५७ ॥

इस समय पुत्र, पौत्र, वधू, पिता, माता और भाइयोंको खोकर गांधारी बडी विकल है। पाण्डवोंने यह दुष्कर कर्म किया है और उन्होंने फिर अपने शत्रुरहित राज्यको प्राप्त कर लिया है ॥ १५७ ॥

कष्टं युद्धे दश शेषाः श्रुता मे त्रयोऽस्माकं पाण्डवानां च सप्त ।
द्व्यूना विंशतिराहताक्षौहिणीनां तस्मिन्संग्रामे विग्रहे क्षत्रियाणाम् ॥ १५८ ॥

हा ! बहुत दुःखकी बात है कि हमारी ओरके तीन और पाण्डव-पक्षके सात, केवल यही दस मनुष्य रणसे बचे हैं, इस युद्धमें क्षत्रियोंकी बीसमें दो कम अर्थात् अट्ठारह अक्षौहिणी सेना नष्ट भ्रष्ट हो गई है ॥ १५८ ॥

तमसा त्वभ्यवस्तीर्णो मोह आविशतीव माम् ।
संज्ञां नोपलभे सूत मनो विह्वलतीव मे ॥ १५९ ॥

हे सूत ! चारों ओर अंधेरेसे घिरा हुआ मैं मोहसे विकल हो रहा हूं, चेतना मुझे छोडकर भागी जा रही है, चित्त बडा उदास हो रहा है ॥ १५९ ॥

इत्युक्त्वा धृतराष्ट्रोऽथ विलप्य बहु दुःखितः ।
मूर्च्छितः पुनराश्वस्तः संजयं वाक्यमब्रवीत् ॥ १६० ॥

इस प्रकार कह कर राजा धृतराष्ट्र बहुत दुःखी होकर और बहुत विलाप करके मूर्छित हो गये । फिर चेतना आनेपर संजयसे यह बोले ॥ १६० ॥

PTO

मरुत्तं मनुमिक्ष्वाकुं गयं भरतमेव च ।
रामं दाशरथिं चैव शशबिन्दुं भगीरथम् ॥ १६८ ॥

मरुत्त, मनु, इक्ष्वाकु, गय, भरत, परशुराम, दशरथपुत्र राम, शशबिन्दु, भगीरथ ॥१६८॥

ययातिं शुभकर्माणं देवैर्यो याजितः स्वयम् ।
चैत्ययूपांकिना भूमिर्यस्येयं सवनाकरा ॥ १६९ ॥

स्वयं देवताओंने जिनका यज्ञ कराया था और जिनके यज्ञीय यूपसमूहसे अंकित महीमण्डल यज्ञोंका घर बन गया था ऐसे शुभ कर्मशील ययाति ॥ १६९ ॥

इति राज्ञां चतुर्विंशन्नारदेन सुरर्षिणा ।
पुत्रशोकाभितप्ताय पुरा शैब्याय कीर्तिताः ॥ १७० ॥

इन चौबीस राजाओंका वर्णन पूर्वकालमें राजा शैब्यके पुत्रशोकसे विकल होनेपर देवर्षि नारदने किया था ॥ १७० ॥

तेभ्यश्चान्ये गताः पूर्वं राजानो बलवत्तराः ।
महारथा महात्मानः सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १७१ ॥

इनके अतिरिक्त इनसे भी पहले और भी बहुतेरे अतिबलशाली महारथी, सर्व गुणशाली महात्मा राजा कालके गर्भमें चले गये ॥ १७१ ॥

पूरुः कुरुर्यदुः शूरो विष्वगश्वो महाधृतिः ।
अनेना युवनाश्वश्च ककुत्स्थो विक्रमी रघुः ॥ १७२ ॥

जैसे पुरु, कुरु, यदु, शूर विष्वगश्व, महाधृति, अनेना, युवनाश्व, ककुत्स्थ, विक्रमी रघु ॥ १७२॥

विजिती वीतिहोत्रश्च भवः श्वेतो बृहद्गुरुः ।
उशीनरः शतरथः कङ्को दुलिदुहो द्रुमः ॥ १७३ ॥

विजिती, वीतिहोत्र, भव, श्वेत, बृहद्गुरु, उशीनर, शतरथ, कंक, दुलिदुह, द्रुम ॥१७३॥

दंभोद्भवः परो वेनः सगरः संकृतिर्निमिः ।
अजेयः परशुः पुण्ड्रः शम्भुर्देवावृधोऽनघः ॥ १७४ ॥

दंभोद्भव, पर, वेन, सगर, संकृति, निमि, अजेय, परशु, पुण्ड्र, शंभु और निष्पाप देवावृध ॥ १७४ ॥

देवाह्वयः सुप्रतिमः सुप्रतीको बृहद्रथः ।
महोत्साहो विनीतात्मा सुक्रतुर्नैषधो नलः ॥ १७५ ॥

देवाह्वय, सुप्रतिम, सुप्रतीक, बृहद्रथ, महोत्साह, विनीतात्मा, सुक्रतु, निषधदेशका राजा नल ॥ १७५ ॥

सत्यव्रतः शान्तभयः सुमित्रः सुबलः प्रभुः ।
जानुजङ्घोऽनरण्योऽर्कः प्रियभृत्यः शुभव्रतः ॥ १७६ ॥
सत्यव्रत, शांतभय, सुमित्र, सुबल, प्रभु, जानुजंघ, अनरण्य, अर्क, प्रियभृत्य, शुभव्रत ॥ १७६ ॥

बलबन्धुर्निरामर्दः केतुशृंगो बृहद्बलः ।
धृष्टकेतुर्बृहत्केतुर्दीप्तकेतुर्निरामयः ॥ १७७ ॥
बलबन्धु, निरामर्द, केतुशृंग, बृहद्बल, धृष्टकेतु, बृहत्केतु, दीप्तकेतु, निरामय ॥ १७७ ॥

अविक्षित्प्रबलो धूर्तः कृतबन्धुर्दृढेषुधिः ।
महापुराणः संभाव्यः प्रत्यंगः परहा श्रुतिः ॥ १७८ ॥
अविक्षित्, प्रबल, धूर्त, कृतबन्धु, दृढेषुधि, महापुराण, संभाव्य, प्रत्यंग, परहा, श्रुति ॥ १७८ ॥

एते चान्ये च राजानः शतशोऽथ सहस्रशः ।
श्रूयन्तेऽयुतशश्चान्ये संख्याताश्चापि पद्मशः ॥ १७९ ॥
ये सब राजा और दूसरे सैंकडों, सहस्रों, पद्म संख्या तकके सुने जाते हैं ॥ १७९ ॥

हित्वा सुविपुलान्भोगान्बुद्धिमन्तो महाबलाः ।
राजानो निधनं प्राप्तास्तव पुत्रैर्महत्तमाः ॥ १८० ॥
ये सब आपके पुत्रोंसे भी अधिक बुद्धिमान्, अतिबलवान्, प्रतापवान् राजागण अपार ऐश्वर्य छोडकर मृत्युको प्राप्त होकर परलोकको चले गये ॥ १८० ॥

येषां दिव्यानि कर्माणि विक्रमस्त्याग एव च ।
माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यता शौचमार्जवम् ॥ १८१ ॥
जिनके अलौकिक कार्य, विक्रम, त्याग, माहात्म्य, आस्तिकता, सत्य-निष्ठा, शौच, सरलता ॥ १८१ ॥

विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणैः कविसत्तमैः ।
सर्वर्द्धिगुणसम्पन्नास्ते चापि निधनं गताः ॥ १८२ ॥
आदि उत्तम गुणोंका वर्णन प्राचीन श्रेष्ठ कवियों और विद्वानोंने किया है, वे सभी गुण और ऐश्वर्यसे सम्पन्न महापुरुष भी मृत्युके मुखमें चले गए ॥ १८२ ॥

तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना ।
लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न ताञ्शोचितुमर्हसि ॥ १८३ ॥
आपके पुत्रगण दुरात्मा, क्रोधसे संतप्त, लोभी और बडे दुराचारी थे, अत एव आपको उनके लिए शोक नहीं करना चाहिये ॥ १८३ ॥

श्रुतवानसि मेधावी बुद्धिमान्प्राज्ञसंमतः ।
येषां शास्त्रानुगा बुद्धिर्न ते मुह्यन्ति भारत ॥ १८४ ॥

आप शास्त्रज्ञ, मेधावान्, धीमान् और पंडित समाजमें अतिसंमानित हैं; हे भारत! जिनकी बुद्धि शास्त्रोंके अनुसार काम करनेवाली होती है, वे कभी मोहवश नहीं होते ॥ १८४ ॥

निग्रहानुग्रहौ चापि विदितौ ते नराधिप ।
नात्यन्तमेवानुवृत्तिः श्रूयते पुत्ररक्षणे ॥ १८५ ॥

हे राजन! आप तो जानते ही होंगे कि, आपने पांडवोंके प्रति निर्दयता और अपने पुत्रोंके प्रति दया दिखाई थी। अपनी संतानकी रक्षाके निमित्त अत्यन्त प्रेम नहीं सुना जाता ॥१८५॥

भवितव्यं तथा तच्च नातः शोचितुमर्हसि ।
दैवं प्रज्ञाविशेषेण को निवर्तितुमर्हति ॥ १८६ ॥

यह वैसा होना ही था अतः अब उस बारेमें खेद करना ठीक नहीं, भाग्यको अपनी बुद्धिके कौशलसे भी कौन अन्यथा कर सकता है? ॥ १८६ ॥

विधातृविहितं मार्गं न कश्चिदतिवर्तते ।
कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ १८७ ॥

विधाताके द्वारा निर्णीत पथका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। भाव, अभाव, सुख, दुःख, सबके जडमें काल ही कार्य करता है ॥ १८७ ॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ।
निर्दहन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ॥ १८८ ॥

काल ही प्राणियोंको परिपक्व अर्थात् पुष्ट करता है, फिर काल ही उन प्रजाओंका संहार करता है, काल ही प्रजाओंको जलाता है, फिर प्रजाओंको जलाते हुए कालको महाकाल ही शांत करता है ॥ १८८ ॥

कालो वि कुरुते भावान्सर्वाँल्लोके शुभाशुभान् ।
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥ १८९ ॥

सारे भुवन मंडलके शुभाशुभ संपूर्ण पदार्थ कालहीसे बन रहे हैं, कालहीमें लय होते हैं और कालहीसे फिर प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। काल विना बाधा सब भूतोंमें तुल्यभावसे विचर रहा है ॥ १८९ ॥

अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति साम्प्रतम् ।
तान्कालनिर्मितान्बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥ १९० ॥

भूत, भविष्यत् तथा इस समय जो विद्यमान हैं वे सभी वस्तुएं कालसे रची हुई हैं, यह सब जानकर आपको अपना विवेक छोडना कदापि उचित नहीं है ॥ १९० ॥

सूत उवाच

अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्।
भारताध्ययनात्पुण्यादपि पादमधीयतः।
श्रद्दधानस्य पूयन्ते सर्वपापान्यशेषतः ॥ १९१ ॥

व्यास सूत बोले— श्रीकृष्ण द्वैपायन महाराज इस विषयमें परम पवित्र उपनिषत् रूपी महा[भारत] कह गये हैं, यदि कोई पुण्यदायक महाभारतका एक चरण भी श्रद्धासहित पढे तो अध्ययनसे उस श्रद्धालुके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १९१ ॥

देवर्षयो ह्यत्र पुण्या ब्रह्मराजर्षयस्तथा।
कीर्त्यन्ते शुभकर्माणस्तथा यक्षमहोरगाः ॥ १९२ ॥

इस भारतमें निष्पाप और उत्तम कर्मशील देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, महोरग और य[क्षोंका] वर्णन है ॥ १९२ ॥

भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च ॥ १९३ ॥

इस ग्रंथमें विशेषकर सनातन भगवान् कृष्णका वर्णन है, वे ही सत्य और ऋत स[ब] पवित्र और पवित्रकारी हैं ॥ १९३ ॥

शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः ॥ १९४ ॥

वे ही शाश्वत ब्रह्म और पवित्र और सनातन ज्योति हैं; पण्डितगण जिनके लोकातीत कार्योंका कीर्तन करते हैं ॥ १९४ ॥

असत्सत्सदसच्चैव यस्माद्देवात्प्रवर्तते।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्म मृत्युः पुनर्भवः ॥ १९५ ॥

जिस देवसे सत्, असत् और सदसत् यह विश्व, प्रजा, यागादि कर्मकी प्रवृत्ति, जन्म, और पुनर्जन्म हो रहे हैं ॥ १९५ ॥

अध्यात्मं श्रूयते यच्च पञ्चभूतगुणात्मकम्।
अव्यक्तादि परं यच्च स एव परिगीयते ॥ १९६ ॥

जो अध्यात्मरूप है तथा जो पंचभूतात्मा है तथा जो अव्यक्तादि संपूर्ण वस्तुओं परे जिसका वेदमें वर्णन है ॥ १९६ ॥

यत्तयातिवरा युक्ता ध्यानयोगबलान्विताः ।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥ १९७ ॥

और जिसको योगी तथा ध्यान और योगके बलसे युक्त यतिश्रेष्ठ आइनेमें स्थित प्रतिबिम्बके सदृश अपनी आत्मामें देखते हैं, उसी सनातन भगवान् वासुदेवका वर्णन इस ग्रंथमें है ॥१९७॥

श्रद्दधानः सदायुक्तः सत्यधर्मपरायणः ।
आसेवन्निममध्यायं नरः पापात्प्रमुच्यते ॥ १९८ ॥

सत्य और धर्मशील तथा सदा प्रयत्नशील रहनेवाला नर, नियम और श्रद्धाके साथ इस अध्यायका पाठ करके सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होता है ॥ १९८ ॥

अनुक्रमणिमध्यायं भारतस्येममादितः ।
आस्तिकः सततं शृण्वन्न कृच्छ्रेष्ववसीदति ॥ १९९ ॥

आस्तिक पुरुष भारत ग्रंथके इस अनुक्रमणिका-अध्यायको प्रथमसे सदा सुनता हुआ कठिनसे कठिन क्लेशमें भी दुःखी नहीं होता ॥ १९९ ॥

उभे संध्ये जपन् किंचित् सद्यो मुच्येत किल्बिषात् ।
अनुक्रमण्या यावत्स्यादह्ना रात्र्या च संचितम् ॥ २०० ॥

सन्ध्या और प्रातःकालमें इस अनुक्रमणिका-अध्यायका थोडा थोडा पाठ करनेसे दिन और रात्रिके समय इकट्ठे किए गए सब पाप उसी समय छूट जाते हैं ॥ २०० ॥

भारतस्य वपुर्ह्येतत्सत्यं चामृतमेव च ।
नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा ॥ २०१ ॥

यह अनुक्रमणिका अध्याय महाभारतकी सत्य और अमृतसे भरी देहके सदृश है । जैसे दहीमें मक्खन, मनुष्योंमें ब्राह्मण ॥ २०१ ॥

ह्रदानामुदधिः श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
यथैतानि वरिष्ठानि तथा भारतमुच्यते ॥ २०२ ॥

जलाशयोंमें समुद्र और चतुष्पदों—चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, वैसे ही इतिहासोंमें यह महाभारत श्रेष्ठ है ॥ २०२ ॥

यश्चैनं श्रावयेच्छ्राद्धे ब्राह्मणान्पादमन्ततः ।
अक्षय्यमन्नपानं वै पितॄंस्तस्योपतिष्ठति ॥ २०३ ॥

जो पुरुष श्राद्धकालमें इसका एक चरण भी ब्राह्मणोंको सुनाता है, उससे पितरोंको अक्षय अन्न और पानकी प्राप्ति होती है ॥ २०३ ॥

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति ॥ २०४ ॥

इतिहास और पुराणसे वेदके अर्थका स्पष्टीकरण करें, क्योंकि थोडी विद्या पढे हुए मनुष्यसे वेदको यह भय लगता है कि यह मुझे बिगाड देगा ॥ २०४ ॥

कार्ष्णं वेदमिमं विद्वाञ्श्रावयित्वार्थमश्नुते।
भ्रूणहत्याकृतं चापि पापं जह्यान्न संशयः ॥ २०५ ॥

श्री कृष्णद्वैपायनके कथित इस वेदको सुनाकर पण्डित धन पाता है और निश्चय ही भ्रूणहत्यादि पापोंसे भी वह मुक्त हो जाता है इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २०५ ॥

य इमं शुचिरध्यायं पठेत् पर्वणि पर्वणि।
अधीतं भारतं तेन कृत्स्नं स्यादिति मे मतिः ॥ २०६ ॥

जो पुरुष शुद्ध हो करके इस अध्यायका हर पर्वमें पाठ करता है, उसको संपूर्ण भारतको पढ़नेका फल मिलता है ऐसा मेरा मत है ॥ २०६ ॥

यश्चेमं शृणुयान्नित्यमार्षं श्रद्धासमन्वितः।
स दीर्घमायुः कीर्तिं च स्वर्गतिं चाप्नुयान्नरः ॥ २०७ ॥

जो पुरुष श्रद्धायुक्त होकर ऋषि-सेवित इस अध्यायको नित्य सुनता है, वह दीर्घायु हो और कीर्ति लाभ कर अन्तमें देवलोक प्राप्त करता है ॥ २०७ ॥

चत्वार एकतो वेदा भारतं चैकमेकतः।
समागतैः सुरर्षिभिस्तुलामारोपितं पुरा।
महत्वे च गुरुत्वे च ध्रियमाणं ततोऽधिकम् ॥ २०८ ॥

पूर्वकालमें सब देवताओं और ऋषियोंने मिलकर तराजूके एक ओर चारों वेद और दूसरी ओर केवल इस भारतको तराजूपर तौला, तो महत्त्व और भारीपनमें यही भारत भारी निकला ॥ २०८ ॥

महत्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते।
निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २०९ ॥

महत्त्वपूर्ण और भारी होनेके कारण ही इसे महाभारत कहते हैं। जो पुरुष महाभारत शब्दके सत्यार्थको जानता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २०९ ॥

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ २१० ॥

तपस्या अशुद्ध नहीं है, पठन अशुद्ध नहीं है, संपूर्ण स्वाभाविक वेद-विधि अशुद्ध नहीं और जबर्दस्तीसे द्रव्य छीन लेना इत्यादि भी कदापि पापजनक नहीं हो सकते; प असद् अभिप्रायसे दूषित हो जानेपर वे ही निःसंदेह पापजनक हो जाते हैं ॥ २१० ॥

इति श्री महाभारते आदिपर्वणि अनुक्रमणी नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ इस प्रकार महाभारतमें आदिपर्वका प्रथम अध्याय और अनुक्रमणिका पर्व समाप्त हुआ ॥

: २ :

ऋषय ऊचुः

समन्तपञ्चकमिति यदुक्तं सूतनन्दन ।
एतत्सर्वं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १ ॥

ऋषिगण बोले– हे सूतनन्दन ! तुमने जिस समन्तपंचक देशका नाम लिया हम उसके सब सत्यवृत्तांतोंको सुनना चाहते हैं ॥ १ ॥

सूत उवाच

शुश्रूषा यदि वो विप्रा ब्रुवतश्च कथाः शुभाः ।
समन्तपञ्चकाख्यं च श्रोतुमर्हथ सत्तमाः ॥ २ ॥

सूत बोले– हे श्रेष्ठ ऋषिगण ! शुभ कथाओंको कहते हुए मुझसे यदि समन्तपंचकके बारेमें सुननेकी आपकी इच्छा है तो श्रवण कीजिये ॥ २ ॥

त्रेताद्वापरयोः संधौ रामः शस्त्रभृतां वरः ।
असकृत्पार्थिवं क्षत्रं जघानामर्षचोदितः ॥ ३ ॥

त्रेता और द्वापर युगोंके सन्धिकालमें शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भगवान् परशुरामने क्रोधके वशमें होकर क्षत्रिय राजाओंका बार बार विनाश किया था ॥ ३ ॥

स सर्वं क्षत्रमुत्साद्य स्ववीर्येणानलद्युतिः ।
समन्तपञ्चके पञ्च चकार रुधिरह्रदान् ॥ ४ ॥

उस अग्नितुल्य तेजस्वी रामने अपने भुजवीर्यके बलसे क्षत्रिय कुलका सत्यानाश कर उनके शोणितसे समंतपंचकमें पांच तालाब बनाये थे ॥ ४ ॥

स तेषु रुधिराम्भस्सु ह्रदेषु क्रोधमूर्च्छितः ।
पितॄन्संतर्पयामास रुधिरेणेति नः श्रुतम् ॥ ५ ॥

हमने सुना है, कि क्रोधयुक्त होकर उन रक्तरूपी जलसे भरे ह्रदोंके किनारे उन्होंने रक्तसे पितरोंका तर्पण किया था ॥ ५ ॥

अथर्चीकादयोऽभ्येत्य पितरो ब्राह्मणर्षभम् ।
तं क्षमस्वेति सिषिधुस्ततः स विरराम ह ॥ ६ ॥

अनन्तर ऋचीक आदि पितृलोगोंने आकर उन ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ पराक्रमी परशुरामको 'क्षत्रियोंको क्षमा करो' यह कहकर क्षत्रियकुलके उच्छेद करनेके कार्यसे निवृत्त किया और वह भी उस कार्यसे शान्त हो गये ॥ ६ ॥

तेषां समीपे यो देशो ह्रदानां रुधिराम्भसाम्।
समन्तपञ्चकमिति पुण्यं तत्परिकीर्तितम् ॥७॥

रक्तरूपी जलसे युक्त इन पांच ह्रदोंके आसपासका जो देश है वह पवित्र 'समन्तपंचक' नामसे प्रसिद्ध हुआ है ॥ ७ ॥

येन लिङ्गेन यो देशो युक्तः समुपलक्ष्यते
तेनैव नाम्ना तं देशं वाच्यमाहुर्मनीषिणः ॥८॥

क्योंकि जिस चिन्हसे जो देश युक्त देखा जाता है, पण्डितगण उन्हींके अनुसार उस देशका नाम निश्चित करते हैं ॥८॥

अन्तरे चैव संप्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपञ्चके युद्धं कुरु-पाण्डव-सेनयोः ॥९॥

द्वापर और कलियुगके सन्धिकालके प्राप्त होने पर उस समंतपंचक देशमें कुरुपांडवोंकी सेनाओंमें संग्राम हुवा ॥ ९ ॥

तस्मिन्परमधर्मिष्ठे देशे भूदोषवर्जिते।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ॥१०॥

उस भूदोषसे वर्जित और अत्यन्त धार्मिक देशमें अठारह अक्षौहिणी सेनायें युद्ध करनेक कामनासे इकट्ठी हुई थीं ॥ १० ॥

एवं नामाभिनिर्वृत्तं तस्य देशस्य वै द्विजाः।
पुण्यश्च रमणीयश्च स देशो वः प्रकीर्तितः ॥११॥

हे ब्राह्मणो ! उस प्रदेशका यह नाम इसी प्रकार पडा है। मैंने उस रमणीय और पवि प्रदेशका वर्णन तुम्हारे सामने कर दिया है ॥ ११ ॥

तदेतत्कथितं सर्वं मया वो मुनिसत्तमाः।
यथा देशः स विख्यातस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥१२॥

हे मुनिश्रेष्ठो! जिस कारण वह प्रदेश तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है उसकी वह सब कथा मैंने त कह दी है ॥ १२ ॥

ऋषय ऊचुः

अक्षौहिण्य इति प्रोक्तं यत्त्वया सूतनन्दन।
एतदिच्छामहे श्रोतुं सर्वमेव यथातथम् ॥१३॥

ऋषिगण बोले– हे सूतनन्दन! आपने जो अक्षौहिणी शब्द कहा, हम उस सबका ठीक अर्थ सुनना चाहते हैं ॥ १३ ॥

अक्षौहिण्याः परीमाणं रथाश्वनरदन्तिनाम् ।
यथावच्चैव नो ब्रूहि सर्वं हि विदितं तव ॥ १४ ॥

एक अक्षौहिणीके परिमाणमें कितने रथ, कितने घोडे कितने पैदल मनुष्य और कितने हाथी रहते हैं, आप सब कुछ जानते हैं, अतः हमें ठीक ठीक बताइए ॥ १४ ॥

सूत उवाच

एको रथो गजश्चैको नराः पञ्च पदातयः ।
त्रयश्च तुरगास्तज्ज्ञैः पत्तिरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

श्री सूत बोले— उस परिमाणको जाननेवाले एक रथ, एक हाथी, पाँच पैदल मनुष्य और तीन घोडोंको मिलाकर एक पत्ति कहते हैं ॥ १५ ॥

पत्तिं तु त्रिगुणामेतामाहुः सेनामुखं बुधाः ।
त्रीणि सेनामुखान्येको गुल्म इत्यभिधीयते ॥ १६ ॥

तीन गुना पत्तिओंको विद्वान् एक सेनामुख कहते हैं और तीन सेनामुखोंको एक गुल्म कहते हैं ॥ १६ ॥

त्रयो गुल्मा गणो नाम वाहिनी तु गणास्त्रयः ।
स्मृतास्तिस्रस्तु वाहिन्यः पृतनेति विचक्षणैः ॥ १७ ॥

तीन गुल्मोंसे एक गण; तीन गणोंसे एक वाहिनी; तीन वाहिनियोंकी सम्मिलित सेनाको बुद्धिमान् पृतना कहते हैं ॥ १७ ॥

चमूस्तु पृतनास्तिस्रस्तिस्रश्चम्वस्त्वनीकिनी ।
अनीकिनीं दशगुणां प्राहुरक्षौहिणीं बुधाः ॥ १८ ॥

और तीन पृतनाओंसे एक चमू होती है; तीन चमुओंसे एक अनीकिनी होती है; दश अनीकिनियोंके एकत्र मिलने पर उसे पण्डित लोग एक अक्षौहिणी कहते हैं ॥ १८ ॥

अक्षौहिण्याः प्रसंख्यानं रथानां द्विजसत्तमाः ।
संख्यागणिततत्त्वज्ञैः सहस्राण्येकविंशतिः ॥ १९ ॥
शतान्युपरि चैवाष्टौ तथा भूयश्च सप्ततिः ।
गजानां तु परीमाणमेतदेवात्र निर्दिशेत् ॥ २० ॥

हे द्विजश्रेष्ठगण ! संख्या गिननेके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंने अक्षौहिणी सेनाकी यह संख्या लगाई है, कि रथोंकी संख्या (२१, ८, ७०) इक्कीस सहस्र, आठसौ, सत्तर और गजोंकी संख्या भी इतनी ही अर्थात् अश्वोंके बराबर ही है ॥ १९–२० ॥

ज्ञेयं शतसहस्रं तु सहस्राणि तथा नव।
नराणामपि पञ्चाशच्छतानि त्रीणि चानघाः ॥ २१ ॥

(१, ०९, ३, ५०) एक लक्ष, नौ सहस्र, तीनसौ, पचास पैदल मनुष्य ॥ २१ ॥

पञ्चषष्टिसहस्राणि तथाश्वानां शतानि च।
दशोत्तराणि षट् प्राहुर्यथावदिह संख्यया ॥ २२ ॥

(६५,६,१०) और पैंसठ हजार, छःसौ, दस घोडे इस प्रकार विद्वान् संख्यासे कहते हैं ॥ २२ ॥

एतामक्षौहिणीं प्राहुः संख्यातत्त्वविदो जनाः।
यां वः कथितवानस्मि विस्तरेण द्विजोत्तमाः ॥ २३ ॥

इसीको संख्यातत्त्वको जाननेवाले विद्वान् अक्षौहिणी कहते हैं, जिसको हे ब्राह्मणश्रेष्ठो! मैंने तुमसे विस्तारसे कह दिया है ॥ २३ ॥

एतया संख्यया ह्यासन्कुरुपाण्डवसेनयोः।
अक्षौहिण्यो द्विजश्रेष्ठाः पिण्डेनाष्टादशैव ताः ॥ २४ ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठो! कौरव पाण्डवोंकी सेनायें इसी संख्याके आधार पर अठारह अक्षौहिणी सम्मिलित हुई थीं ॥ २४ ॥

समेतास्तत्र वै देशे तत्रैव निधनं गताः।
कौरवान्कारणं कृत्वा कालेनाद्भुतकर्मणा ॥ २५ ॥

हे द्विजश्रेष्ठगण! वे सेनायें कौरवोंको कारण बनाकर आश्चर्यकार्यकारी कालके आ जाने पर उसी देशमें सम्मिलित हुई और वहींपर नष्ट हो गई ॥ २५ ॥

अहानि युयुधे भीष्मो दशैव परमास्त्रवित्।
अहानि पञ्च द्रोणस्तु ररक्ष कुरुवाहिनीम् ॥ २६ ॥

परमास्त्रोंके जाननेवाले भीष्मने दश दिनतक युद्ध किया। द्रोणाचार्यने पांच दिवसतक कौरवोंके सेनाकी रक्षा की ॥ २६ ॥

अहनी युयुधे द्वे तु कर्णः परबलार्दनः।
शल्योऽर्धदिवसं त्वासीत् गदायुद्धमतः परम् ॥ २७ ॥

शत्रुसेनाका नाश करनेवाले कर्णने दो दिन और शल्यने आधा दिन युद्ध किया था, अनंतर आधा दिन भीम और दुर्योधनमें गदायुद्ध हुआ था ॥ २७ ॥

तस्यैव तु दिनस्यान्ते हार्दिक्यद्रौणिगौतमाः।
प्रसुप्तं निशि विश्वस्तं जघ्नुर्यौधिष्ठिरं बलम् ॥ २८ ॥

उसी दिन रात्रिको कृतवर्मा, अश्वत्थामा और कृपाचार्य इन तीनोंने युधिष्ठिरकी आश्वस्त होकर निद्रित सेनाओंपर आक्रमण किया और उन्हें मार डाला ॥ २८ ॥

यत्तु शौनकसत्रे ते भारताख्यानविस्तरम् ।
आख्यास्ये तत्र पौलोममाख्यानं चादितः परम् ॥ २९ ॥

मैं शौनकके यज्ञमें जो सुन्दर विस्तृत भारतोपाख्यानका आख्यान करूंगा । उसमें शुरुमें प्रथम पहले पौलोमका आख्यान है ॥ २९ ॥

विचित्रार्थपदाख्यानमनेकसमयान्वितम् ।
अभिपन्नं नरैः प्राज्ञैर्वैराग्यमिव मोक्षिभिः ॥ ३० ॥

यह भारत अनेक विचित्र पदों, अनेक आख्यानों और नाना प्रकारके आचारादियोंसे युक्त है, मोक्षार्थी जन जैसे वैराग्यका आश्रय लेते हैं, वैसे ही प्राज्ञलोग इस भारतकी शरण लिये रहते हैं ॥ ३० ॥

आत्मेव वेदितव्येषु प्रियेष्विव च जीवितम् ।
इतिहासः प्रधानार्थः श्रेष्ठः सर्वागमेष्वयम् ॥ ३१ ॥

जैसे जानने योग्य वस्तुओंमें आत्मा और प्यारी वस्तुओंमें जीवन प्रधान है, वैसे ही श्रेष्ठ विषयोंसे भरा हुआ यह इतिहास संपूर्ण आगमोंमें श्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

इतिहासोत्तमे ह्यस्मिन्नर्पिता बुद्धिरुत्तमा ।
स्वरव्यञ्जनयोः कृत्स्ना लोकवेदाश्रयेव वाक् ॥ ३२ ॥

जैसे सब लौकिक और वैदिक वाणी, स्वर और व्यंजनरूप वर्णोंमें समायी रहती है, उसी प्रकार इस उत्तम इतिहासमें श्रेष्ठ बुद्धि भरी पडी है ॥ ३२ ॥

अस्य प्रज्ञाभिपन्नस्य विचित्रपदपर्वणः ।
भारतस्येतिहासस्य श्रूयतां पर्वसंग्रहः ॥ ३३ ॥

इस समय आप लोग अनन्त प्रज्ञाके आधार, विचित्र पद और पर्वसे युक्त, भारत इतिहासका पर्वसंग्रह सुनिए ॥ ३३ ॥

पर्वानुक्रमणी पूर्वं द्वितीयं पर्वसंग्रहः ।
पौष्यं पौलोममास्तीकमादिवंशावतारणम् ॥ ३४ ॥

प्रथम अनुक्रमणिका पर्व, द्वितीय पर्व-संग्रह पर्व, आगे पौष्य पर्व, पौलोम पर्व, आस्तीक पर्व, और आदिवंशावतारण पर्व है ॥ ३४ ॥

ततः संभवपर्वोक्तमद्भुतं देवनिर्मितम् ।
दाहो जतुगृहस्यात्र हैडिम्बं पर्व चोच्यते ॥ ३५ ॥

अनन्तर देवों द्वारा निर्मित विचित्र संभव पर्व, इसके बाद जतुगृह-दाह पर्व, इसके बाद हिडिम्ब पर्वका वर्णन है ॥ ३५ ॥

ततो बकवधः पर्व पर्व चैत्ररथं ततः।
ततः स्वयंवरं देव्याः पाञ्चाल्याः पर्व चोच्यते ॥ ३६ ॥

अनन्तर बकवध पर्व, उसके बाद चैत्ररथ पर्व, पश्चात् देवी पांचाली द्रौपदीका स्वयंवर पर्व कहा जाता है ॥ ३६ ॥

क्षत्रधर्मेण निर्जित्य ततो वैवाहिकं स्मृतम्।
विदुरागमनं पर्व राज्यलम्भस्तथैव च ॥ ३७ ॥

उसके बाद क्षत्रिय—धर्मसे जयलाभके पश्चात् पाण्डवोंका विवाह पर्व, अनन्तर विदुरागमन पर्व, उसके बाद राज्यप्राप्ति पर्व ॥ ३७ ॥

अर्जुनस्य वने वासः सुभद्राहरणं ततः।
सुभद्राहरणादूर्ध्वं ज्ञेयं हरणहारिकम् ॥ ३८ ॥

इसके बाद अर्जुनका वनवास पर्व, पश्चात् सुभद्राहरण पर्व और सुभद्राहरण पर्वके बाद हरणाहरण पर्व जानना चाहिए ॥ ३८ ॥

ततः खाण्डवदाहाख्यं तत्रैव मयदर्शनम्।
सभापर्व ततः प्रोक्तं मन्त्रपर्व ततः परम् ॥ ३९ ॥

अनंतर खाण्डवदाह पर्व, वहीं पर मयदानवका दर्शन हुआ, उसके बाद सभा पर्व कहा गया है और तब उसके बाद मन्त्रणा पर्व है ॥ ३९ ॥

जरासन्धवधः पर्व पर्व दिग्विजयस्तथा।
पर्व दिग्विजयादूर्ध्वं राजसूयिकमुच्यते ॥ ४० ॥

मंत्रपर्वके बाद जरासंधवध पर्व, जिसके अनन्तर दिग्विजय पर्व, दिग्विजयके बाद राजसूयिक पर्व कहा है ॥ ४० ॥

ततश्चार्घाभिहरणं शिशुपालवधस्ततः।
द्यूतपर्व ततः प्रोक्तमनुद्यूतमतः परम् ॥ ४१ ॥

पश्चात् अर्घाभिहरण पर्व, उसके बाद शिशुपालवध पर्व, अनन्तर द्यूत पर्व, पश्चात् अनुद्यूत पर्व कहा है ॥ ४१ ॥

तत आरण्यकं पर्व किर्मीरवध एव च।
ईश्वरार्जुनयोर्युद्धं पर्व कैरातसंज्ञितम् ॥ ४२ ॥

अनंतर अरण्य-यात्रा-पर्व, उसके बाद किर्मीर वध पर्वका वर्णन है, तब ईश्वरार्जुनके युद्ध-संबंधी किरात नामका पर्व है ॥ ४२ ॥

इन्द्रलोकाभिगमनं पर्व ज्ञेयमतः परम्।
तीर्थयात्रा ततः पर्व कुरुराजस्य धीमतः ॥ ४३ ॥

इस किरात पर्वके बाद इंद्रलोकाभिगमन पर्वको जानना चाहिए, उसके बाद कुरुराज युधिष्ठिरका तीर्थयात्रा पर्व है ॥ ४३ ॥

जटासुरवधः पर्व यक्षयुद्धमतः परम्।
तथैवाजगरं पर्व विज्ञेयं तदनन्तरम् ॥ ४४ ॥

तब जटासुरवध, फिर यक्षयुद्ध पर्व, उसके बाद अजगर पर्व जानना चाहिए ॥ ४४ ॥

मार्कण्डेयसमस्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम्।
संवादश्च ततः पर्व द्रौपदीसत्यभामयोः ॥ ४५ ॥

उसके बाद मार्कण्डेय-समस्या पर्वका वर्णन है, उसके बाद द्रौपदी–सत्यभामा–संवाद पर्व है ॥ ४५ ॥

घोषयात्रा ततः पर्व मृगस्वप्नभयं ततः।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानं ततोऽनन्तरमुच्यते ॥ ४६ ॥

उसके बाद घोषयात्रा पर्व है, उसीमें मृगस्वप्नभय और तदनन्तर व्रीहि द्रौणिक उपाख्यान कहा गया है ॥ ४६ ॥

द्रौपदीहरणं पर्व सैन्धवेन वनात्ततः।
कुण्डलाहरणं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ४७ ॥

तब उसी वनसे जयद्रथ द्वारा द्रौपदी हरण पर्व, आगे कुंडल हरण पर्व कहा जाता है ॥ ४७ ॥

आरणेयं ततः पर्व वैराटं तदनन्तरम्।
कीचकानां वधः पर्व पर्व गोग्रहणं ततः ॥ ४८ ॥

उसके बाद आरणेय पर्व, अनन्तर विराट पर्व, आगे कीचकवध पर्व, अनन्तर गोग्रहण पर्व ॥ ४८ ॥

अभिमन्युना च वैराट्याः पर्व वैवाहिकं स्मृतम्।
उद्योगपर्व विज्ञेयमत ऊर्ध्वं महाद्भुतम् ॥ ४९ ॥

तब अभिमन्यु और विराट पुत्री उत्तराका विवाह पर्व कहा गया है, अनन्तर अति आश्चर्यकारक सैन्योद्योग पर्व जानना चाहिए ॥ ४९ ॥

ततः संजययानाख्यं पर्व ज्ञेयमतः परम्।
प्रजागरं ततः पर्व धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ ५० ॥

उसके बाद संजययान पर्व जानना चाहिए, उसके पश्चात् धृतराष्ट्रकी चिंताका प्रजागर पर्व समझना चाहिए ॥ ५० ॥

पर्व सानत्सुजातं च गुह्यमध्यात्मदर्शनम् ।
यानसंधिस्ततः पर्व भगवद्यानमेव च ॥ ५१ ॥
अनन्तर गुह्यात्मक अध्यात्मज्ञानसंबंधी सनत्सुजात पर्व, उसके बाद यानसंधि पर्व तदनन्तर भगवद्यान पर्व है ॥ ५१ ॥

ज्ञेयं विवादपर्वात्र कर्णस्यापि महात्मनः ।
निर्याणं पर्व च ततः कुरुपाण्डवसेनयोः ॥ ५२ ॥
महात्मा श्रीकृष्णचंद्र और कर्णका वादविवाद पर्व, उसके पश्चात् कुरुपाण्डवोंका सैन्य निर्याण पर्व जानना चाहिए ॥ ५२ ॥

रथातिरथसंख्या च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
उलूकदूतागमनं पर्वामर्षविवर्धनम् ॥ ५३ ॥
इसके अनंतर रथातिरथ संख्या पर्व कहा गया है इसके बाद क्रोधवृद्धि करनेवाला उलूक दूताभिगमन पर्व है ॥ ५३ ॥

अम्बोपाख्यानमपि च पर्व ज्ञेयमतः परम् ।
भीष्माभिषेचनं पर्व ज्ञेयमद्भुतकारणम् ॥ ५४ ॥
उसके पश्चात् अंबोपाख्यान पर्व समझना चाहिए । अनंतर आश्चर्यकारक भीष्माभिषेक पर्व जानना चाहिए ॥ ५४ ॥

जम्बूखण्डविनिर्माणं पर्वोक्तं तदनन्तरम् ।
भूमिपर्व ततो ज्ञेयं द्वीपविस्तरकीर्तनम् ॥ ५५ ॥
तदनंतर जम्बुद्वीपके निर्माणका पर्व है, अनंतर द्वीप विस्तारके कीर्तनसे युक्त भूमि पर्व है ॥५५॥

पर्वोक्तं भगवद्गीता पर्व भीष्मवधस्ततः ।
द्रोणाभिषेकः पर्वोक्तं संशप्तकवधस्ततः ॥ ५६ ॥
तब भगवद्गीता पर्व, इसके पश्चात् भीष्मवध पर्व, अनन्तर द्रोणाभिषेक पर्व और तब संशप्तकवध पर्व है ॥ ५६ ॥

अभिमन्युवधः पर्व प्रतिज्ञापर्व चोच्यते ।
जयद्रथवधः पर्व घटोत्कचवधस्ततः ॥ ५७ ॥
आगे अभिमन्यु वध पर्व, अनन्तर प्रतिज्ञा पर्व कहा गया है तब जयद्रथ वध पर्व, इसके पश्चात् घटोत्कचवध पर्व है ॥ ५७ ॥

ततो द्रोणवधः पर्व विज्ञेयं लोमहर्षणम् ।
मोक्षो नारायणास्त्रस्य पर्वानन्तरमुच्यते ॥ ५८ ॥
अनन्तर रोंगटे खडे करनेवाला द्रोणवध पर्व जानना चाहिए, आगे नारायणास्त्रत्यागै पर्व कहा गया है ॥ ५८ ॥

कर्णपर्व ततो ज्ञेयं शल्यपर्व ततः परम् ।
ह्रदप्रवेशनं पर्व गदायुद्धमतः परम् ॥ ५९ ॥

इसके पश्चात् कर्ण पर्व जानना चाहिए, अनन्तर शल्यवध पर्व, तब ह्रदप्रवेश और उसके पश्चात् गदायुद्धपर्व है ॥ ५९ ॥

सारस्वतं ततः पर्व तीर्थवंशगुणान्वितम् ।
अत ऊर्ध्वं तु बीभत्सं पर्व सौप्तिकमुच्यते ॥ ६० ॥

अनन्तर वंशानुकीर्तनपूर्वक सारस्वत तीर्थ पर्व, उसके पश्चात् अतिबीभत्स सौप्तिकपर्व कहा है ॥ ६० ॥

ऐषीकं पर्व निर्दिष्टमत ऊर्ध्वं सुदारुणम् ।
जलप्रदानिकं पर्व स्त्रीपर्व च ततः परम् ॥ ६१ ॥

आगे अति कष्टदायी ऐषीकपर्व कहा है, उसके पश्चात् जलप्रदानिक पर्व और उसके अनन्तर स्त्री पर्व है ॥ ६१ ॥

श्राद्धपर्व ततो ज्ञेयं कुरूणामौर्ध्वदेहिकम् ।
आभिषेचनिकं पर्व धर्मराजस्य धीमतः ॥ ६२ ॥

तब कौरवोंका और्ध्वदेहिक श्राद्धपर्व अनन्तर धीमान् धर्मराजका आभिषेचनिक पर्व है ॥ ६२ ॥

चार्वाकनिग्रहः पर्व रक्षसो ब्रह्मरूपिणः ।
प्रविभागो गृहाणां च पर्वोक्तं तदनन्तरम् ॥ ६३ ॥

उसके पश्चात् ब्राह्मणवेशधारी चार्वाक राक्षसकी निग्रहपर्व और तब गृहविभागपर्व कहा है ॥ ६३ ॥

शान्तिपर्व ततो यत्र राजधर्मानुकीर्तनम् ।
आपद्धर्मश्च पर्वोक्तं मोक्षधर्मस्ततः परम् ॥ ६४ ॥

उसके पश्चात् राजधर्मोंको बतलानेवाला शान्ति पर्व, अनंतर आपद्धर्म पर्व, उसके बाद मोक्षधर्म पर्व है ॥ ६४ ॥

ततः पर्व परिज्ञेयमानुशासनिकं परम् ।
स्वर्गारोहणिकं पर्व ततो भीष्मस्य धीमतः ॥ ६५ ॥

उसके पश्चात् आनुशासनिक पर्व, उसके बाद धीमान् भीष्मजीका स्वर्गारोहण पर्व जानना चाहिए ॥ ६५ ॥

ततोऽश्वमेधिकं पर्व सर्वपापप्रणाशनम्।
अनुगीतां ततः पर्व ज्ञेयमध्यात्मवाचकम् ॥ ६६ ॥

तब सर्व पापनाशी आश्वमेधिकं पर्व उसके पश्चात् अध्यात्मसंबंधी अनुगीतां पर्व समझना चाहिए ॥ ६६ ॥

पर्व चाश्रमवासाख्यं पुत्रदर्शनमेव च।
नारदागमनं पर्व ततः परमिहोच्यते ॥ ६७ ॥

अनन्तर आश्रमवासिकं पर्व और तब पुत्रदर्शनं पर्व, उसके पश्चात् श्रेष्ठ नारदागमनं पर्व कहा है ॥ ६७ ॥

मौसलं पर्व च ततो घोरं समनुवर्ण्यते।
महाप्रस्थानिकं पर्व स्वर्गारोहणिकं ततः ॥ ६८ ॥

अनन्तर अतिकष्टदायी मौसलं पर्वका वर्णन है, उसके बाद महाप्रस्थानिकं पर्व, उसके पश्चात् स्वर्गारोहणिकं पर्व है ॥ ६८ ॥

हरिवंशस्ततः पर्व पुराणं खिलसंज्ञितम्।
भविष्यत्पर्व चाप्युक्तं खिलेष्वेवाद्भुतं महत् ॥ ६९ ॥

अनंतर खिल नामक पुराना हरिवंशं पर्व, तब खिलोंमें अति आश्चर्यकारक भविष्यं पर्व भी कहा गया है ॥ ६९ ॥

एतत्पर्वशतं पूर्णं व्यासेनोक्तं महात्मना।
यथावत्सूतपुत्रेण लोमहर्षणिना पुनः ॥ ७० ॥

इन सौ पर्वोंको महात्मा व्यासदेव पूर्ण रूपसे कह गये हैं। सूत पुत्र लोमहर्षणके द्वारा फिर यथावत् ॥ ७० ॥

कथितं नैमिषारण्ये पर्वाण्यष्टादशैव तु।
समासो भारतस्यायं तत्रोक्तः पर्वसंग्रहः ॥ ७१ ॥

नैमिषारण्यमें संक्षेप क्रमानुसार जो अठारह पर्व कह गये हैं, भारतके वही संक्षिप्त पर्वसंग्रह कहे जाते हैं ॥ ७१ ॥

पौष्ये पर्वणि माहात्म्यमुत्तङ्कस्योपवर्णितम्।
पौलोमे भृगुवंशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ॥ ७२ ॥

पौष्य पर्वमें उत्तङ्क मुनिके महात्म्यका वर्णन और पौलोमपर्वमें भृगुवंशका विस्तार वर्णित है ॥ ७२ ॥

आस्तीके सर्वनागानां गरुडस्य च संभवः।
क्षीरोदमथनं चैव जन्मोच्चैःश्रवसस्तथा　　　॥ ७३ ॥

आस्तीक पर्वमें गरुड और संपूर्ण सर्पोंकी उत्पत्ति, क्षीर समुद्रका मंथन, उच्चैःश्रवाकी उत्पत्ति ॥ ७३ ॥

यजतः सर्पसत्रेण राज्ञः पारीक्षितस्य च।
कथेयमभिनिर्वृत्ता भारतानां महात्मनाम्　　　॥ ७४ ॥

और महाराज परीक्षितके पुत्र जनमेजयके सर्पयज्ञके कालमें भरतवंशी महात्माओंसे संबंधित महाभारतकी कथा वर्णित हुई है ॥ ७४ ॥

विविधाः संभवा राज्ञामुक्ताः संभवपर्वणि।
अन्येषां चैव विप्राणामृषेर्द्वैपायनस्य च　　　॥ ७५ ॥

संभवपर्वमें राजगण तथा दूसरे विप्रगण और महर्षि द्वैपायनकी भिन्न भिन्न प्रकारकी उत्पत्ति कही है ॥ ७५ ॥

अंशावतरणं चात्र देवानां परिकीर्तितम्।
दैत्यानां दानवानां च यक्षाणां च महौजसाम्　　　॥ ७६ ॥

महान् तेजवाले देवताओंका अंशावतार; दैत्य, दानव, यक्ष ॥ ७६ ॥

नागानामथ सर्पाणां गन्धर्वाणां पतत्रिणाम्।
अन्येषां चैव भूतानां विविधानां समुद्भवः　　　॥ ७७ ॥

नाग, सर्प, गंधर्व, पक्षी और दूसरे नाना प्राणियोंकी उत्पत्ति कही है ॥ ७७ ॥

वसूनां पुनरुत्पत्तिर्भागीरथ्यां महात्मनाम्।
शंतनोर्वेश्मनि पुनस्तेषां चारोहणं दिवि　　　॥ ७८ ॥

राजा शन्तनुके गृहमें गंगाके गर्भसे महानुभाव वसुओंकी उत्पत्ति, पुनः उनका स्वर्गारोहण ॥ ७८ ॥

तेजोंशानां च संघाताद् भीष्मस्याप्यत्र संभवः।
राज्यान्निवर्तनं चैव ब्रह्मचर्यव्रते स्थितिः　　　॥ ७९ ॥

और तेजोंके संगठनसे भीष्मका जन्म और उनका राज्यत्याग, ब्रह्मचर्यव्रतका अवलंबन ॥ ७९ ॥

प्रतिज्ञापालनं चैव रक्षा चित्राङ्गदस्य च।
हते चित्राङ्गदे चैव रक्षा भ्रातुर्यवीयसः　　　॥ ८० ॥

तथा प्रतिज्ञा पालन; भीष्मके द्वारा चित्रांगदकी रक्षा और चित्रांगदके मारे जाने पर उसके कनिष्ठ सहोदर ॥ ८० ॥

विचित्रवीर्यस्य तथा राज्ये संप्रतिपादनम्।
धर्मस्य नृषु संभूतिरणीमाण्डव्यशापजा ॥ ८१ ॥

विचित्रवीर्यकी रक्षा और उसकी राज्यमें स्थापना; अणीमाण्डव्यके शापसे धर्मकी नर योनिमें उत्पत्ति ॥ ८१ ॥

कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूतिर्वरदानजा।
धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च संभवः ॥ ८२ ॥

वरदानके बलसे कृष्णद्वैपायनसे धृतराष्ट्र और पाण्डुका जन्म और पाण्डवोंकी उत्पत्ति ॥ ८२ ॥

वारणावतयात्रा च मन्त्रो दुर्योधनस्य च।
विदुरस्य च वाक्येन सुरङ्गोपक्रमक्रिया ॥ ८३ ॥

पाण्डवोंकी वारणावतकी यात्रा और दुर्योधनकी मंत्रणा और विदुरके वाक्यसे सुरङ्गका खोदा जाना ॥ ८३ ॥

पाण्डवानां वने घोरे हिडिम्बायाश्च दर्शनम्।
घटोत्कचस्य चोत्पत्तिरत्रैव परिकीर्तिता ॥ ८४ ॥

घने वनमें पाण्डवोंकी राक्षसी हिडिम्बासे भेंट और घटोत्कचकी उत्पत्ति यहीं बताई है ॥ ८४ ॥

अज्ञातचर्या पाण्डूनां वासो ब्राह्मणवेश्मनि।
बकस्य निधनं चैव नागराणां च विस्मयः ॥ ८५ ॥

ब्राह्मणके घर पाण्डवोंका अज्ञातवास, राक्षस बकका वध और यह देखकर नगरवासियों-का विस्मय आदि सब वर्णित है ॥ ८५ ॥

अङ्गारपर्णं निर्जित्य गङ्गाकूलेऽर्जुनस्तदा।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः पाञ्चालानभितो ययौ ॥ ८६ ॥

गंगाके किनारे अंगारपर्ण गंधर्वको जीत कर अर्जुन सभी भाइयोंके साथ पांचाल नगरमें गए ॥ ८६ ॥

तापत्यमथ वासिष्ठमौर्वं चाख्यानमुत्तमम्।
पञ्चेन्द्राणामुपाख्यानमत्रैवाद्भुतमुच्यते ॥ ८७ ॥

तापत्य, वासिष्ठ, और और्वकी उत्तम कथाएं तथा पांच इन्द्रोंकी अति अद्भुत कथा इसी स्थल पर कही गई हैं ॥ ८७ ॥

पश्चानामेकपत्नीत्वे विमर्शो द्रुपदस्य च।
द्रौपद्या दैवविहितो विवाहश्चाप्यमानुषः ॥ ८८ ॥

द्रौपदीके पांच पतिके होनेकी बात सुन कर राजा द्रुपदका विचार करना, द्रौपदीका दैवके द्वारा निश्चित अमानवी विवाह ॥ ८८ ॥

विदुरस्य च संप्राप्तिर्दर्शनं केशवस्य च।
खाण्डवप्रस्थवासश्च तथा राज्यार्धशासनम् ॥ ८९ ॥

पाण्डवोंके पास विदुरका पहुंचना और श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन, पाण्डवोंका खाण्डवप्रस्थमें बसना और आधे राज्यके शासनका पाना ॥ ८९ ॥

नारदस्याज्ञया चैव द्रौपद्याः समयक्रिया।
सुन्दोपसुन्दयोस्तत्र उपाख्यानं प्रकीर्तितम् ॥ ९० ॥

श्री नारदजीकी आज्ञासे पांचों भाइयोंका द्रौपदीके साथ रहनेके नियम निश्चित करना; और वहीं सुन्द और उपसुन्दका उपाख्यान आदि सब कहा है ॥ ९० ॥

पार्थस्य वनवासश्च उलूप्या पथि संगमः।
पुण्यतीर्थानुसंयानं बभ्रुवाहनजन्म च ॥ ९१ ॥

पार्थका वनवास और पथमें उलूपीसे संगम और पुण्यतीर्थको जाना; बभ्रुवाहनका जन्म ॥ ९१ ॥

द्वारकायां सुभद्रा च कामयानेन कामिनी।
वासुदेवस्यानुमते प्राप्ता चैव किरीटिना ॥ ९२ ॥

द्वारकामें श्रीकृष्णचन्द्रकी संमतिसे काम-यानकी सहायतासे अर्जुनके द्वारा कामिनी सुभद्राकी प्राप्ति ॥ ९२ ॥

हरणं गृह्य संप्राप्ते कृष्णे देवकिनन्दने।
संप्राप्तिश्चक्रधनुषोः खाण्डवस्य च दाहनम् ॥ ९३ ॥

देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका दहेजसहित खाण्डव-प्रस्थमें गमन; चक्र और धनुषकी प्राप्ति और खाण्डववनका दाह ॥ ९३ ॥

अभिमन्योः सुभद्रायां जन्म चोत्तमतेजसः।
मयस्य मोक्षो ज्वलनाद्भुजंगस्य च मोक्षणम्।
महर्षेर्मन्दपालस्य शार्ङ्ग्यां तनयसंभवः ॥ ९४ ॥

उत्तम तेजस्वी अभिमन्युका सुभद्रासे जन्म, मय-दानव और सर्पकी अग्निसे रक्षा; शार्ङ्गीके गर्भमें मन्दपाल नामक महर्षिके पुत्रकी उत्पत्ति ॥ ९४ ॥

इत्येतदादिपर्वोक्तं प्रथमं बहुविस्तरम्।
अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा।
अष्टादशैव चाध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥ ९५ ॥

यह सब वृत्तान्त विस्तारसे प्रथमपर्व आदिपर्वमें कहा गया है। भगवान् तेजोवान् महात्मा महर्षि वेदव्यासने इस पर्वमें दो सौ अठारहें अध्यायोंकी गिनती की है ॥ ९५ ॥

सप्त श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च।
श्लोकाश्च चतुराशीतिर्दृष्टो ग्रन्थो महात्मना ॥ ९६ ॥

और इसमें सात हजार नौ सौ चौरासी श्लोक महातमा व्यास द्वारा रचे गये हैं ॥ ९६ ॥

द्वितीयं तु सभापर्व बहुवृत्तान्तमुच्यते।
सभाक्रिया पाण्डवानां किंकराणां च दर्शनम् ॥ ९७ ॥

अनेक वृत्तांतवाले दूसरे पर्वका नाम सभापर्व कहा जाता है; पाण्डवोंका सभा-निर्माण; और किङ्करोंका दर्शन ॥ ९७ ॥

लोकपालसभाख्यानं नारदाद्देवदर्शनात्।
राजसूयस्य चारम्भो जरासंधवधस्तथा ॥ ९८ ॥

देवलोक देखनेवाले श्रीनारदजीका लोकपालोंकी सभाका वर्णन; राजसूय यज्ञका प्रारंभ तथा जरासंधका वध ॥ ९८ ॥

गिरिव्रजे निरुद्धानां राज्ञां कृष्णेन मोक्षणम्।
राजसूयेऽर्घसंवादे शिशुपालवधस्तथा ॥ ९९ ॥

गिरिदुर्गमें कैद भोगते हुए राजाओंका श्रीकृष्णके द्वारा छुडाया जाना, राजसूय यज्ञके प्रसंग में अर्घ-पूजा देनेके बारेमें वाद विवाद होनेके बाद शिशुपालका वध ॥ ९९ ॥

यज्ञे विभूतिं तां दृष्ट्वा दुःखामर्षान्वितस्य च।
दुर्योधनस्यावहासो भीमेन च सभातले ॥ १०० ॥

यज्ञके उस ऐश्वर्यको देखकर दुःख और द्वेष-युक्त दुर्योधनकी भीमके द्वारा सभाके बीचमें हंसीका उडाया जाना आदि कथाओंका वर्णन है ॥ १०० ॥

यत्रास्य मन्युरुद्भूतो येन द्यूतमकारयत्।
यत्र धर्मसुतं द्यूते शकुनिः कितवोऽजयत् ॥ १०१ ॥

उससे दुर्योधनमें क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने जुआ खेलनेका निमंत्रण दिया, जहां कपटी शकुनिने द्यूतमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरको जीत लिया ॥ ॥१०१॥

यत्र द्यूतार्णवे मग्नान्द्रौपदी नौरिवार्णवात् ।
तारयामास तांस्तीर्णाञ्ज्ञात्वा दुर्योधनो नृपः ।
पुनरेव ततो द्यूते समाह्वयत पाण्डवान् ॥ १०२ ॥

समुद्रमें डूबी हुई नावकी भांति द्यूतरूपी समुद्रमें डूबे हुए पाण्डवोंको द्रौपदीने बचा लिया, फिर उनको बचा हुआ देखकर राजा दुर्योधनने फिर पाण्डवोंको जुआ खेलनेके लिए बुलाया ॥ १०२ ॥

एतत्सर्वं सभापर्व समाख्यातं महात्मना ।
अध्यायाः सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा द्वौ चात्र संख्यया ॥ १०३ ॥

महात्मा व्यासने सभापर्वमें इन सब विषयोंका वर्णन किया है। इस पर्वमें बहत्तर संख्या-वाले अध्याय जानने चाहिए ॥ १०३ ॥

श्लोकानां द्वे सहस्रे तु पञ्च श्लोकशतानि च ।
श्लोकाश्चैकादश ज्ञेयाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ॥ १०४ ॥

तथा इस पर्वमें दो हजार, पांच सौ, ग्यारह श्लोक सुनाए गए हैं ॥ १०४ ॥

अतः परं तृतीयं तु ज्ञेयमारण्यकं महत् ।
पौरानुगमनं चैव धर्मपुत्रस्य धीमतः ॥ १०५ ॥

इसके पश्चात् आरण्यक नामक बडा भारी तीसरा पर्व है । धीमान् धर्मपुत्रके पीछे नगर-वासियोंका जाना ॥ १०५ ॥

वृष्णीनामागमो यत्र पाञ्चालानां च सर्वशः ।
यत्र सौभवधाख्यानं किर्मीरवध एव च ।
अस्त्रहेतोर्विवासश्च पार्थस्यामिततेजसः ॥ १०६ ॥

जिसमें सभी वृष्णि और पांचालोंका युधिष्ठिरके निकट जाना; और सौभवधका तथा किर्मीरके वधका उपाख्यान, दिव्यास्त्र लाभ करनेकी चेष्टामें अपरिमित तेजस्वी अर्जुनका प्रवास ॥ १०६ ॥

महादेवेन युद्धं च किरातवपुषा सह ।
दर्शनं लोकपालानां स्वर्गारोहणमेव च ॥ १०७ ॥

किरातके शरीरको धारण किए हुए महादेवके साथ अर्जुनका युद्ध, अर्जुनके द्वारा लोकपालोंका दर्शन और स्वर्गपर चढना ॥ १०७ ॥

दर्शनं बृहदश्वस्य महर्षेर्भावितात्मनः ।
युधिष्ठिरस्य चार्तस्य व्यसने परिदेवनम् ॥ १०८ ॥

युधिष्ठिरके द्वारा परमार्थ ज्ञानी बृहदश्व नामक महर्षिका दर्शन और उनके समीप अति-कातर होकर युधिष्ठिरका परिताप और विलाप ॥ १०८ ॥

नलोपाख्यानमत्रैव धर्मिष्ठं करुणोदयम् ।
दमयन्त्याः स्थितिर्यत्र नलस्य व्यसनागमे ॥ १०९ ॥

इसी स्थल पर धर्म और करुणरससे भरा नलोपाख्यानका वर्णन, जिसमें नलके विपत्कालमें दमयंतीकी स्थितिकी कथा कही गई है ॥ १०९ ॥

वनवासगतानां च पाण्डवानां महात्मनाम् ।
स्वर्गे प्रवृत्तिराख्याता लोमशेनार्जुनस्य वै ॥ ११० ॥

महर्षि लोमशका वनवासी महात्मा पाण्डवोंको स्वर्गमें विराजते हुए अर्जुनका समाचार सुनाना ॥ ११० ॥

तीर्थयात्रा तथैवात्र पाण्डवानां महात्मनाम् ।
जटासुरस्य तत्रैव वधः समुपवर्ण्यते ॥ १११ ॥

और उसी प्रकार महात्मा पाण्डवोंका भी तीर्थमें जानेका वर्णन है और उसी पर्वमें जटासुरके वधका भी वर्णन है ॥ १११ ॥

नियुक्तो भीमसेनश्च द्रौपद्या गन्धमादने ।
यत्र मन्दारपुष्पार्थं नलिनीं तामधर्षयत् ॥ ११२ ॥

गन्धमादन पर्वतपर द्रौपदीसे नियुक्त होकर महाबली भीमसेनने मन्दार पुष्पके लिए उस कमलको तोड डाला ॥ ११२ ॥

यत्रास्य सुमहद्युद्धमभवत्सह राक्षसैः ।
यक्षैश्चापि महावीर्यैर्मणिमत्प्रमुखैस्तथा ॥ ११३ ॥

और वहां महान् राक्षसों और मणिमत् आदि महापराक्रमशाली मुख्य मुख्य यक्षोंके साथ भीमका घोर युद्ध हुआ ॥ ११३ ॥

आगस्त्यमपि चाख्यानं यत्र वातापिभक्षणम् ।
लोपामुद्राभिगमनमपत्यार्थमृषेरपि ॥ ११४ ॥

इस पर्वमें ऋषि अगस्त्यका उपाख्यान और इनका वातापि भक्षण तथा सन्तानके निमित्त लोपामुद्रा नामकी कन्यासे समागमका वर्णन है ॥ ११४ ॥

ततः श्येनकपोतीयमुपाख्यानमनन्तरम् ।
इन्द्रोऽग्निर्यत्र धर्मश्च अजिज्ञासञ्छिबिं नृपम् ॥ ११५ ॥

उसके बाद यहीं पर श्येन (बाज) और कपोत (कबूतर) का अत्यन्त उत्तम उपाख्यान है, जिसमें इन्द्र, अग्नि और धर्मने शिबिराजाकी परीक्षा ली है ॥ ११५ ॥

ऋश्यशृङ्गस्य चरितं कौमारब्रह्मचारिणः ।
जामदग्न्यस्य रामस्य चरितं भूरितेजसः ॥ ११६ ॥
इसके बाद कौमार ब्रह्मचारी ऋश्य–शृंगका चरित्र तथा जमदग्निपुत्र महापराक्रमशाली परशुरामजीका चरित्र है ॥ ११६ ॥

कार्तवीर्यवधो यत्र हैहयानां च वर्ण्यते ।
सौकन्यमपि चाख्यानं च्यवनो यत्र भार्गवः ॥ ११७ ॥
इसीमें कार्तवीर्य वध तथा हैहयवंशी राजाओंके वधका वर्णन है इसीमें सुकन्याका अति सुंदर उपाख्यान है जिसमें भृगुवंशी च्यवन मुनिने ॥ ११७ ॥

शर्यातियज्ञे नासत्यौ कृतवान्सोमपीथिनौ
ताभ्यां च यत्र स मुनिर्यौवनं प्रतिपादितः ॥ ११८ ॥
शर्यातिके यज्ञमें दोनों अश्विनी कुमारोंको यज्ञीय सोमरसका अधिकारी बनाया तथा जिसमें अश्विनीकुमारोंने च्यवनमुनिको यौवनावस्था प्रदान की ॥ ११८ ॥

जन्तूपाख्यानमत्रैव यत्र पुत्रेण सोमकः ।
पुत्रार्थमयजद्राजा लेभे पुत्रशतं च सः ॥ ११९ ॥
यहीं जन्तु नामक राजपुत्रका उपाख्यान है । इसीमें सोमकराजने अनेक पुत्र पानेके लिये एक पुत्रको मारकर याग किया और सौ पुत्र पाये ॥ ११९ ॥

अष्टावक्रीयमत्रैव विवादे यत्र बन्दिनम् ।
विजित्य सागरं प्राप्तं पितरं लब्धवानृषिः ॥ १२० ॥
इसीमें अष्टावक्रके शास्त्रार्थका उपाख्यान है । जिसमें बन्दीको जीत करके अष्टावक्रने समुद्रमें डूबे हुए कहोड नामक निज पिताका उद्धार किया ॥ १२० ॥

अवाप्य दिव्यान्यस्त्राणि गुर्वर्थे सव्यसाचिना ।
निवातकवचैर्युद्धं हिरण्यपुरवासिभिः ॥ १२१ ॥
दिव्यास्त्र पाकर सव्यसाची अर्जुनने इन्द्रके कार्यके लिये हिरण्यपुरवासी निवात और कवचोंके साथ युद्ध किया ॥ १२१ ॥

समागमश्च पार्थस्य भ्रातृभिर्गन्धमादने ।
घोषयात्रा च गन्धर्वैर्यत्र युद्धं किरिटिनः ॥ १२२ ॥
उसके बाद गंधमादन पर्वतपर अर्जुनका अपने भाइयोंके साथ मिलाप, फिर किरीटि अर्जुनके द्वारा घोषयात्रा तथा गंधर्वोंके साथ हुए युद्धका वर्णन है ॥ १२२ ॥

पुनरागमनं चैव तेषां द्वैतवनं सह ।
जयद्रथेनापहारो द्रौपद्याश्चाश्रमान्तरात् ॥ १२३ ॥

फिर पाण्डवोंके द्वैतवनके तालाबपर आने और जयद्रथके द्वारा आश्रमके अन्दरसे द्रौपदीको हर जानेका वर्णन है ॥ १२३ ॥

यत्रैनमन्वयाद्भीमो वायुवेगसमो जवे ।
मार्कण्डेयसमस्यायामुपाख्यानानि भागशः ॥ १२४ ॥

और फिर गतिमें वायुके समान वेगवाले भीमसेनका उसके पीछे जानेका तथा मार्कण्डेयके समागम होनेपर अंशरूपसे कई उपाख्यानोंका वर्णन है ॥ १२४ ॥

संदर्शनं च कृष्णस्य संवादश्चैव सत्यया ।
व्रीहिद्रौणिकमाख्यानमैन्द्रद्युम्नं तथैव च ॥ १२५ ॥

फिर कृष्णका दर्शन तथा सत्यभामाके साथ संवाद, व्रीणि, द्रौहिक तथा इन्द्रद्युम्न आदिके उपाख्यानोंका वर्णन है ॥ १२५ ॥

सावित्र्यौद्दालकीयं च वैन्योपाख्यानमेव च ।
रामायणमुपाख्यानमत्रैव बहुविस्तरम् ॥ १२६ ॥

सावित्री, उद्दालक तथा वैन्यके उपाख्यानके बाद यहींपर महाराज रामचन्द्रकी बडी विस्तृत कथा कही है ॥ १२६ ॥

कर्णस्य परिमोषोऽत्र कुण्डलाभ्यां पुरन्दरात् ।
आरणेयमुपाख्यानं यत्र धर्मोऽन्वशात्सुतम् ।
जग्मुर्लब्धवरा यत्र पाण्डवाः पश्चिमां दिशम् ॥ १२७ ॥

इन्द्रके द्वारा कर्णको दोनों कुण्डलसे वंचित कर देना तदनन्तर आरणेय उपाख्यान है, जिसमें धर्मद्वारा निज पुत्रका अनुशासन करनेका वर्णन है इन सबके वर्णनके बाद वर लाभके पश्चात् पाण्डव पश्चिम दिशाको गए इसका भी वर्णन है ॥ १२७ ॥

एतदारण्यकं पर्व तृतीयं परिकीर्तितम् ।
अत्राध्यायशते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा ।
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्तिताः ॥ १२८ ॥

यह सब विषय युक्त आरण्यक नामक तीसरा पर्व वर्णित है। इसमें महर्षिने दो सौ उनहत्तर अध्याय गिनाए हैं ॥ १२८ ॥

एकादश सहस्राणि श्लोकानां षट्शतानि च ।
चतुःषष्टिस्तथा श्लोकाः पर्वैतत्परिकीर्तितम् ॥ १२९ ॥

और ग्यारह हजार, छः सौ, चौसठ श्लोकोंसे युक्त यह पर्व बताया जाता है ॥ १२९ ॥

अतः परं निबोधेदं वैराटं पर्वविस्तरम् ।
विराटनगरं गत्वा श्मशाने विपुलां शमीम् ।
दृष्ट्वा संनिदधुस्तत्र पाण्डवा आयुधान्युत ॥ १३० ॥

इसके पश्चात् विराट पर्वका विस्तृत व्योरा सुनो, विराट नगरमें जाकर श्मशानके बीचमें बड़े भारी शमीवृक्षको देख करके उसपर पाण्डवोंने अस्त्र-शस्त्र रख दिए ॥ १३० ॥

यत्र प्रविश्य नगरं छद्मभिर्न्यवसन्त ते ।
दुरात्मनो वधो यत्र कीचकस्य वृकोदरात् ॥ १३१ ॥

पुरमें प्रवेश करके पाण्डव गुप्तभावसे रहे । वहीं दुराचारी कामी कीचकका भीमके द्वारा वध हुआ ॥ १३१ ॥

गोग्रहे यत्र पार्थेन निर्जिताः कुरवो युधि ।
गोधनं च विराटस्य मोक्षितं यत्र पाण्डवैः ॥ १३२ ॥

इसी विराट पर्वमें अर्जुनने गौओंका हरण करनेपर युद्धमें कौरवोंको जीता और इस प्रकार पाण्डवोंने विराटके गौधनको छुडाया ॥ १३२ ॥

विराटेनोत्तरा दत्ता स्नुषा यत्र किरीटिनः ।
अभिमन्युं समुद्दिश्य सौभद्रमरिघातिनम् ॥ १३३ ॥

सुभद्राके पुत्र शत्रुनाशी अभिमन्युकी पत्नी और पार्थकी पुत्रवधू बनानेकी इच्छासे विराटने अपनी उत्तरा नामकी कन्याका दान किया ॥ १३३ ॥

चतुर्थमेतद्विपुलं वैराटं पर्व वर्णितम् ।
अत्रापि परिसंख्यातमध्यायानां महात्मना ॥ १३४ ॥

इन सब विषय युक्त और विस्तारवाला विराट पर्व चौथा पर्व कहा गया है । इस पर्वमें महात्मा व्यासने अध्यायोंकी संख्या इस प्रकार गिनाई है ॥ १३४ ॥

सप्तषष्टिरथो पूर्णा श्लोकाग्रमपि मे शृणु ।
श्लोकानां द्वे सहस्रे तु श्लोकाः पञ्चाशदेव तु ।
पर्वण्यस्मिन्समाख्याताः संख्यया परमर्षिणा ॥ १३५ ॥

इस पर्वमें सडसठ अध्याय मुझसे सुनो । तथा इस पर्वमें परम ऋषि व्यासने दो हजार पचासकी संख्यामें श्लोक गिनाए हैं ॥ १३५ ॥

Acc. 73376

उद्योगपर्व विज्ञेयं पञ्चमं शृण्वतः परम्।
उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु जिगीषया।
दुर्योधनोऽर्जुनश्चैव वासुदेवमुपस्थितौ ॥ १३६ ॥

इसके अनंतर विशेष रूपसे जानने योग्य उद्योग नामक पांचवा पर्व सुनो। पांडवोंके जयकी इच्छासे उपप्लव्य नाम स्थानमें रहनेपर दुर्योधन और अर्जुन वासुदेवके पास जाकर उपस्थित हुए ॥ १३६ ॥

साहाय्यमस्मिन्समरे भवान्नौ कर्तुमर्हति।
इत्युक्ते वचने कृष्णो यत्रोवाच महामतिः ॥ १३७ ॥

और "आप उपस्थित युद्धमें हमारी सहायता कीजिये," इस प्रकार कहनेपर कृष्णने कहा ॥ १३७ ॥

अयुध्यमानमात्मानं मन्त्रिणं पुरुषर्षभौ।
अक्षौहिणीं वा सैन्यस्य कस्य वा किं ददाम्यहम् ॥ १३८ ॥

"हे श्रेष्ठ पुरुष युगल ! एक तरफ युद्ध न करके केवल सलाहमात्र देनेवाला मैं और दूसरी तरफ मेरी एक अक्षौहिणी सेना, इन दोनोंमें किसको क्या दूं ?" ॥ १३८ ॥

वव्रे दुर्योधनः सैन्यं मन्दात्मा यत्र दुर्मतिः।
अयुध्यमानं सचिवं वव्रे कृष्णं धनंजयः ॥ १३९ ॥

अज्ञानी और दुर्बुद्धिवाले दुर्योधनने सेनाका वरण किया और अर्जुनने युद्धसे दूर रहनेवाले पर मंत्रणा देनेवाले कृष्णको चुना ॥ १३९ ॥

संजयं प्रेषयामास शमार्थं पाण्डवान्प्रति।
यत्र दूतं महाराजो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ॥ १४० ॥

जिस पर्वमें प्रतापी महाराज धृतराष्ट्रने शान्तिके लिए पाण्डवोंकी ओर संजय नामक दूतको भेजा ॥ १४० ॥

श्रुत्वा च पाण्डवान्यत्र वासुदेवपुरोगमान्।
प्रजागरः संप्रजज्ञे धृतराष्ट्रस्य चिन्तया ॥ १४१ ॥

वासुदेवकृष्णको आगे करके चलनेवाले अर्थात् कार्य करनेवाले पाण्डवोंका वृत्तांत सुनकर चिन्तासे धृतराष्ट्रने निद्रा त्याग दी ॥ १४१ ॥

विदुरो यत्र वाक्यानि विचित्राणि हितानि च।
श्रावयामास राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ॥ १४२ ॥

विदुरने जहां बुद्धिमान् धृतराष्ट्र राजाको विचित्र और हितकारी वाक्य सुनाये ॥ १४२ ॥

तथा सनत्सुजातेन यत्राध्यात्ममनुत्तमम् ।
मनस्तापान्वितो राजा श्रावितः शोकलालसः ॥ १४३ ॥

मनःपीडासे पीसे जाते हुए शोकाकुल राजा धृतराष्ट्रने सनत्सुजात ऋषिसे अति उत्तम अध्यात्म संबंधी शास्त्र सुना ॥ १४३ ॥

प्रभाते राजसमितौ संजयो यत्र चाभिभोः ।
ऐकात्म्यं वासुदेवस्य प्रोक्तवानर्जुनस्य च ॥ १४४ ॥

प्रातःकालमें संजयने राजाओंकी सभामें अत्यन्त तेजस्वी वासुदेव और अर्जुनके ऐकात्मभाव-का विषय कहा ॥ १४४ ॥

यत्र कृष्णो दयापन्नः संधिमिच्छन्महायशाः ।
स्वयमागाच्छमं कर्तुं नगरं नागसाह्वयम् ॥ १४५ ॥

महायशवाले और कृपावान् श्रीकृष्ण दोनों पक्षोंमें संधि कराकर शांति स्थापन करनेके लिए स्वयं हस्तिनापुर नगर आए ॥ १४५ ॥

प्रत्याख्यानं च कृष्णस्य राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
शमार्थं याचमानस्य पक्षयोरुभयोर्हितम् ॥ १४६ ॥

दोनों पक्षकी हितेच्छासे शान्तिकी याचना करनेवाले श्रीकृष्णचंद्रका सन्धि-स्थापनका प्रस्ताव करनेपर राजा दुर्योधनने उस बातको टाल दिया ॥ १४६ ॥

कर्णदुर्योधनादीनां दुष्टं विज्ञाय मन्त्रितम् ।
योगेश्वरत्वं कृष्णेन यत्र राजसु दर्शितम् ॥ १४७ ॥

जिस पर्वमें कर्ण, दुर्योधन आदिकी दुष्ट मंत्रणाको समझकर राजाओंमें श्रीकृष्णने अपना योगेश्वर भाव दिखाया ॥ १४७ ॥

रथमारोप्य कृष्णेन यत्र कर्णोऽनुमन्त्रितः ।
उपायपूर्वं शौण्डीर्यात्प्रत्याख्यातश्च तेन सः ॥ १४८ ॥

श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथ पर चढाया और हितकारी बातोंको समझाया, पर कर्णने कुशलता-पूर्वक श्रीकृष्णकी हितकारी बातको अस्वीकार कर दिया ॥ १४८ ॥

ततश्चाप्यभिनिर्यात्रा रथाश्वनरदन्तिनाम् ।
नगराद्धास्तिनपुराद्बलसंख्यानमेव च ॥ १४९ ॥

इसके बाद हस्तिनापुर नगरसे बहुतसी संख्यामें रथ, घोडे, पैदल और हाथियोंकी सेनाओंकी यात्रा शुरु हुई ॥ १४९ ॥

यत्र राज्ञा उलूकस्य प्रेषणं पाण्डवान्प्रति ।
श्वोभाविनि महायुद्धे दूत्येन क्रूरवादिना ।
रथातिरथसंख्यानमम्बोपाख्यानमेव च ॥ १५० ॥

घोर युद्धके पूर्व दिन कठोर बोलनेवाले दुर्योधनने उलूक नामक मनुष्यको दूत नियुक्त कर पाण्डवोंकी सेवामें भेजा, इसी पर्वमें रथ और अतिरथकी संख्या; अम्बोपाख्यान भी वर्णित है ॥ १५० ॥

एतत्सुबहुवृत्तान्तं पञ्चमं पर्व भारत ।
उद्योगपर्व निर्दिष्टं सन्धिविग्रहसंश्रितम् ॥ १५१ ॥

इस प्रकार महाभारतके उद्योग नामक पांचवें पर्वमें संधि विग्रहकी बातोंमें मिले हुए ये सब वृत्तान्त वर्णित हुए हैं ॥ १५१ ॥

अध्यायाः संख्यया त्वत्र षडशीतिशतं स्मृतम् ।
श्लोकानां षट् सहस्राणि तावन्त्येव शतानि च ॥ १५२ ॥
श्लोकाश्च नवतिः प्रोक्तास्तथैवाष्टौ महात्मना ।
व्यासेनोदारमतिना पर्वण्यस्मिंस्तपोधनाः ॥ १५३ ॥

इस पर्वमें एकसौ छियासी अध्यायोंकी संख्या है, तथा छ हजार, छसौ, अठानवे श्लोक है तपोधन ऋषियो ! उदारमति महात्मा व्यासने इस पर्वमें रचे हैं ॥ १५२–१५३ ॥

अत ऊर्ध्वं विचित्रार्थं भीष्मपर्व प्रचक्षते ।
जम्बूखण्डविनिर्माणं यत्रोक्तं संजयेन ह ॥ १५४ ॥

इसके बाद अत्याश्चर्य अर्थवाले भीष्मपर्वकी कथा कही गई है जिसमें संजयने जम्बूखण्ड निर्माण करनेकी कथा कही है ॥ १५४ ॥

यत्र युद्धमभूद्घोरं दशाहान्यतिदारुणम् ।
यत्र यौधिष्ठिरं सैन्यं विषादमगमत्परम् ॥ १५५ ॥

जिसमें कहा है कि दश दिनोंतक बहुत भयंकर लडाई हुई, लिहाजा युधिष्ठिरकी सेनामें बडी उदासी छा गई ॥ १५५ ॥

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः ।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः ॥ १५६ ॥

उसी समय अनेक मोक्षदर्शक हेतुओंको दिखाकर महामति वासुदेवने अर्जुनकी मोहसे उत्पन्न उदासीको दूर किया ॥ १५६ ॥

शिखण्डिनं पुरस्कृत्य यत्र पार्थो महाधनुः ।
विनिघ्नन्निशितैर्बाणै रथाद्भीष्ममपातयत् ॥ १५७ ॥

इसी पर्वमें महा धनुर्धारी पृथा पुत्र अर्जुनके द्वारा शिखंडीको सामने रखकर तेजबाणोंके आघातसे भीष्मको रथसे भूमिपर गिराये जानेका वर्णन है ॥ १५७ ॥

षष्ठमेतन्महापर्व भारते परिकीर्तितम् ।
अध्यायानां शतं प्रोक्तं सप्तदश तथापरं ॥ १५८ ॥

इन सब वृत्तान्तोंसे भरा हुआ भीष्मपर्व भारतका छटवां और महा पर्व है । इस पर्वमें एक सौ सत्रह अध्याय हैं ॥ १५८ ॥

पञ्च श्लोकसहस्राणि संख्ययाष्टौ शतानि च ।
श्लोकाश्च चतुराशीतिः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्तिताः ।
व्यासेन वेदविदुषा संख्याता भीष्मपर्वणि ॥ १५९ ॥

तथा पांच हजार आठ सौ चौरासी श्लोक इस भीष्मपर्वमें वेदविद्वान् व्यासने गिनाए हैं ॥ १५९ ॥

द्रोणपर्व ततश्चित्रं बहुवृत्तान्तमुच्यते ।
यत्र संशप्तकाः पार्थमपनिन्यू रणाजिरात् ॥ १६० ॥

अनन्तर बहु वृत्तांत युक्त अति आश्चर्यकारक द्रोण-पर्व है; इसमें संशप्तक युद्ध स्थलसे अर्जुनको दूर ले गए ॥ १६० ॥

भगदत्तो महाराजो यत्र शक्रसमो युधि
सुप्रतीकेन नागेन सह शस्तः किरीटिना ॥ १६१ ॥

युद्धमें इन्द्रके समान पराक्रमी महाराज भगदत्त अपने सुप्रतीक नामक हाथीके साथ किरीटी अर्जुनके द्वारा मारे गए ॥ १६१ ॥

यत्राभिमन्युं बहवो जघ्नुर्लोकमहारथाः ।
जयद्रथमुखा बालं शूरमप्राप्तयौवनम् ॥ १६२ ॥

जयद्रथ आदि महारथी योद्धाओंके द्वारा महाबली अप्राप्त-यौवन अकेले बालक अभिमन्युका वध किया गया ॥ १६२ ॥

हतेऽभिमन्यौ क्रुद्धेन यत्र पार्थेन संयुगे ।
अक्षौहिणीः सप्त हत्वा हतो राजा जयद्रथः ।
संशप्तकावशेषं च कृतं निःशेषमाहवे ॥ १६३ ॥

अभिमन्युके मारे जाने पर क्रुद्ध हुए अर्जुनने रणभूमिमें सात अक्षौहिणी सेनाओंको मार कर मद्रराज जयद्रथको मार डाला; संशप्तकोंका युद्धमें पूरीतरह नाश किया ॥ १६३ ॥

अलम्बुसः श्रुतायुश्च जलसंधश्च वीर्यवान्।
सौमदत्तिर्विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।
घटोत्कचादयश्चान्ये निहता द्रोणपर्वणि ॥ १६४ ॥

अलम्बुस, श्रुतायु, जलसन्ध, वीर्यशाली भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद और घटोत्कच आदि अनेक वीरोंका द्रोणपर्वमें नाश हुआ ॥ १६४ ॥

अश्वत्थामापि चात्रैव द्रोणे युधि निपातिते।
अस्त्रं प्रादुश्चकारोग्रं नारायणममर्षितः ॥ १६५ ॥

युद्धमें द्रोणाचार्यके मार दिए जानेपर क्रोधसे जले हुए अश्वत्थामाने भयानक नारायण अस्त्रको प्रकट किया ॥ १६५ ॥

सप्तमं भारते पर्व महदेतदुदाहृतम्।
अत्र ते पृथिवीपालाः प्रायशो निधनं गताः।
द्रोणपर्वणि ये शूरा निर्दिष्टाः पुरुषर्षभाः ॥ १६६ ॥

यही सब विषय सविस्तृत सातवें पर्वमें कहे गये हैं। महाभारतमें यह सातवां और महान् पर्व है। द्रोणपर्वमें जिन सब पुरुष श्रेष्ठ भूपालोंका निर्देश है, प्रायः सभीके मृत्युवृत्तान्त इस पर्वमें वर्णित हुए हैं ॥ १६६ ॥

अध्यायानां शतं प्रोक्तमध्यायाः सप्ततिस्तथा।
अष्टौ श्लोकसहस्राणि तथा नव शतानि च ॥ १६७ ॥
श्लोका नव तथैवात्र संख्यातास्तत्त्वदर्शिना।
पाराशर्येण मुनिना संचिन्त्य द्रोणपर्वणि ॥ १६८ ॥

एक सौ सत्तर अध्याय और आठ सहस्र, नौ सौ तथा नौ श्लोक इस द्रोण पर्वमें तत्त्वदर्शी मुनि पराशर पुत्र व्यासने सोच विचार कर रखे हैं ॥ १६७–१६८ ॥

अतः परं कर्णपर्व प्रोच्यते परमाद्भुतम्।
सारथ्ये विनियोगश्च मद्रराजस्य धीमतः।
आख्यातं यत्र पौराणं त्रिपुरस्य निपातनम् ॥ १६९ ॥

इसके पश्चात् परम अद्भुत कर्णपर्व कहा है। धीमान्मद्रराजा शल्यका सारथीके कार्यमें नियुक्त होने तथा पुराण प्रसिद्ध त्रिपुरासुरके वधका वर्णन इस पर्वमें है ॥ १६९ ॥

प्रयाणे परुषश्चात्र संवादः कर्णशल्ययोः।
हंसकाकीयमाख्यानमत्रैवाक्षेपसंहितम् ॥ १७० ॥

युद्धार्थ यात्रा करनेके कालमें कर्ण और मद्रराजके बीचमें परस्पर वाक्य युद्ध, कर्णके तिरस्कारार्थ शल्यका हंस और काककी कथा कहनेका वर्णन भी इसी पर्वमें है ॥ १७० ॥

अन्योन्यं प्रति च क्रोधो युधिष्ठिरकिरीटिनोः ।
द्वैरथे यत्र पार्थेन हतः कर्णो महारथः ॥ १७१ ॥

युधिष्ठिर और अर्जुनका आपसमें क्रोधित होने; द्वैरथ युद्धमें अर्जुनसे महारथी कर्णके मारे जानेका वर्णन ॥ १७१ ॥

अष्टमं पर्व निर्दिष्टमेतद्भारतचिन्तकैः ।
एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ।
चत्वार्येव सहस्राणि नव श्लोकशतानि च ॥ १७२ ॥

यही सब विषय भारतके रचयिता महाराज व्यासजीने आठवें पर्वमें कहे हैं। वेदव्यासजीने इस कर्ण पर्वमें उनहत्तर अध्याय और चार सहस्र, नौ सौ श्लोक कीर्तन किये हैं ॥ १७२ ॥

अतः परं विचित्रार्थं शल्यपर्व प्रकीर्तितम् ।
हतप्रवीरे सैन्ये तु नेता मद्रेश्वरोऽभवत् ॥ १७३ ॥

इसके अनन्तर विचित्र अर्थयुक्त शल्यपर्व कहा है। कर्ण तथा सेनाओंमें मुख्य मुख्य वीरोंके मारे जानेपर मद्रेश्वर शल्य सेनापतिके पदपर नियुक्त हुए ॥ १७३ ॥

वृत्तानि रथयुद्धानि कीर्त्यन्ते यत्र भागशः ।
विनाशः कुरुमुख्यानां शल्यपर्वणि कीर्त्यते ॥ १७४ ॥

नाना रथियोंके पृथक् रूपसे रथयुद्धोंका वर्णन; कौरव-पक्षके प्रधान प्रधान योद्धाओंके मारे जानेका वर्णन इसी शल्य पर्वमें है ॥ १७४ ॥

शल्यस्य निधनं चात्र धर्मराजान्महारथात् ।
गदायुद्धं तु तुमुलमत्रैव परिकीर्तितम् ।
सरस्वत्याश्च तीर्थानां पुण्यता परिकीर्तिता ॥ १७५ ॥

और इसी पर्वमें महारथी धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा शल्यके वधका वर्णन, तथा उस रण-भूमिमें भीमके साथ दुर्योधनका घोर गदायुद्ध और सरस्वती तीर्थ और दूसरे नाना तीर्थोंका माहात्म्य कीर्तन ॥ १७५ ॥

नवमं पर्व निर्दिष्टमेतदद्भुतमर्थवत् ।
एकोनषष्टिरध्यायास्तत्र संख्याविशारदैः ॥ १७६ ॥

यह सब विषय आश्चर्य अर्थयुक्त नवें पर्वमें वर्णित हुए हैं। इस पर्वमें गणना करनेमें कुशल लोगोंने उनसठ अध्याय गिनायें हैं ॥ १७६ ॥

संख्याता बहुवृत्तान्ताः श्लोकाग्रं चात्र शस्यते।
त्रीणि श्लोकसहस्राणि द्वे शते विंशतिस्तथा।
मुनिना संप्रणीतानि कौरवाणां यशोभृताम् ॥ १७७ ॥

कौरवोंके यशःकीर्तन करनेवाले व्यासमुनिने इसमें नाना वृत्तांतयुक्त तीन सहस्र, दो सौ, बीस श्लोक रचे हैं। इन श्लोकोंमें व्यासमुनिने कौरवोंका यशःकीर्तन करनेवाले बहुतसे वृत्तान्त कहे हैं ॥ १७७ ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सौप्तिकं पर्व दारुणम्।
भग्नोरुं यत्र राजानं दुर्योधनममर्षणम् ॥ १७८ ॥
व्यपयातेषु पार्थेषु त्रयस्तेऽभ्याययू रथाः।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः सायाह्ने रुधिरोक्षिताः ॥ १७९ ॥

इसके पश्चात् दुःखदायी सौप्तिक पर्व कहता हूं। टूटी जांघ वाला क्रोधी दुर्योधन जिस स्थानमें पडा हुआ था, वहां पाण्डवोंके रणस्थलसे चले जानेपर संध्याके समय रक्तसे सने हुए कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा ये तीनों रथी गए ॥ १७८– १७९ ॥

प्रतिजज्ञे दृढक्रोधो द्रौणिर्यत्र महारथः।
अहत्वा सर्वपाञ्चालान्धृष्टद्युम्नपुरोगमान्।
पाण्डवांश्च सहामात्यान्न विमोक्ष्यामि दंशनम् ॥ १८० ॥

यहीं महा–रथी तथा दृढ क्रोधी द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने यह प्रतिज्ञा की कि, " धृष्टद्युम्न आदि पांचाल और सहचर समेत पाण्डवोंको जबतक नहीं मार दूंगा, तबतक कवच नहीं उतारूंगा " ॥ १८० ॥

प्रसुप्तान्निशि विश्वस्तान्यत्र ते पुरुषर्षभाः।
पाञ्चालान्सपरीवाराञ्जघ्नुर्द्रौणिपुरोगमाः ॥ १८१ ॥

उसके बाद रातमें विश्वासपूर्वक सोते हुए पांचालवीरोंको परिवार सहित अश्वत्थामाके नेतृत्वमें उन कृपाचार्य आदि पुरुष श्रेष्ठोंने मार डाला ॥ १८१ ॥

यत्रामुच्यन्त पार्थास्ते पञ्च कृष्णबलाश्रयात्।
सात्यकिश्च महेष्वासः शेषाश्च निधनं गताः ॥ १८२ ॥

श्रीकृष्णके बलके कौशलसे इस प्रकार केवल महा धनुषधारी सात्यकि और पांच पाण्डव बचे, शेष सब मारे गये ॥ १८२ ॥

द्रौपदी पुत्रशोकार्ता पितृभ्रातृवधार्दिता।
कृतानशनसंकल्पा यत्र भर्तॄनुपाविशत् ॥ १८३ ॥

पुत्र वधके शोक और पितृ-भ्रातृ-वधसे कातर द्रौपदी भूखी रहकर प्राण त्यागनेका निश्चय कर पतिओंके पास आकर बैठ गई ॥ १८३ ॥

द्रौपदीवचनाद्यत्र भीमो भीमपराक्रमः ।
अन्वधावत संक्रुद्धो भारद्वाजं गुरोः सुतम् ॥ १८४ ॥

भयंकर पराक्रम करनेवाले भीमसेन द्रौपदीके वचनसे क्रोधित होकर अपने गुरुके पुत्र तथा भरद्वाजवंशीय अश्वत्थामाके पीछे दौडे ॥ १८४ ॥

भीमसेनभयाद्यत्र दैवेनाभिप्रचोदितः ।
अपाण्डवायेति रुषा द्रौणिरस्त्रमवासृजत् ॥ १८५ ॥

द्रोण पुत्रने भीमके भयसे और दैव प्रेरणासे क्रोधपूर्वक " पृथ्वी पाण्डवोंसे रहित हो जाये " ऐसा कहकर अस्त्र छोडा ॥ १८५ ॥

मैवमित्यब्रवीत्कृष्णः शमयंस्तस्य तद्वचः ।
यत्रास्त्रमस्त्रेण च तच्छमयामास फाल्गुनः ॥ १८६ ॥

इस पर श्रीकृष्ण चंद्रने " ऐसा न हो " कहा और अश्वत्थामाके वचनोंको शान्त कर दिया और अर्जुनने अस्त्र द्वारा उस अस्त्रका निवारण किया ॥ १८६ ॥

द्रौणिद्वैपायनादीनां शापाश्चान्योन्यकारिताः ।
तोयकर्मणि सर्वेषां राज्ञामुदकदानिके ॥ १८७ ॥
गूढोत्पन्नस्य चाख्यानं कर्णस्य पृथयात्मनः ।
सुतस्यैतादिह प्रोक्तं दशमं पर्व सौप्तिकम् ॥ १८८ ॥

अश्वत्थामा और द्वैपायन आदिने परस्पर एक दूसरेको शाप दिया तथा सब राजाओंको जल देकर तर्पण करनेका काम प्रारम्भ होने पर कुन्तीने अपने पुत्र कर्णके जन्मकी गुप्त कथा कह सुनाई, यह सब इस दसवें सौप्तिक पर्वमें है॥ १८७–१८८ ॥

अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ।
श्लोकाग्रमत्र कथितं शतान्यष्टौ तथैव च ॥ १८९ ॥
(१०) १८अध्याय ८७०श्लोक
श्लोकाश्च सप्ततिः प्रोक्ता यथावदभिसंख्यया ।
सौप्तिकैषीकसंबन्धे पर्वण्यमितबुद्धिना ॥ १९० ॥

वेदवक्ता महात्मा व्यास मुनिने इसमें अठारह अध्याय कीर्तन किये और उसी प्रकार आठ सौ सत्तर श्लोक रचे हैं। अमित बुद्धिमान् व्यासने ऐषिक पर्वको इस पर्वके अन्तर्गत किया है ॥ १८९–१९० ॥

अत ऊर्ध्वमिदं प्राहुः स्त्रीपर्व करुणोदयम् ।
(११) स्त्रीपर्व
विलापो वीरपत्नीनां यत्रातिकरुणः स्मृतः ।
क्रोधावेशः प्रसादश्च गांधारीधृतराष्ट्रयोः ॥ १९१ ॥

इसके अनन्तर करुणरसयुक्त स्त्रीपर्व कहा जाता है। इस पर्वमें वीरोंकी स्त्रियोंका अति करुण-स्वरसे विलाप करना बताया है। गांधारी और धृतराष्ट्रके क्रोधित होकर शान्त होनेका भी वर्णन इसी पर्वमें है ॥ १९१ ॥

यत्र तान्क्षत्रियाञ्शूरान्दिष्टान्ताननिवर्तिनः।
पुत्रान्भ्रातॄन्पितॄंश्चैव ददृशुर्निहतान्रणे ॥ १९२ ॥

क्षत्रिय नारियोंने युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अपने शूरवीर पिता, भ्राता और पतियोंको रणमें मरा हुआ देखा ॥ १९२ ॥

यत्र राजा महाप्राज्ञः सर्वधर्मभृतां वरः।
राज्ञां तानि शरीराणि दाहयामास शास्त्रतः ॥ १९३ ॥

सब धार्मिकोंमें श्रेष्ठ महा बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने युद्धमें मरे हुए राजाओंके उन शरीरों-का शास्त्रानुसार दाह कर्म इसी पर्वमें किया ॥ १९३ ॥

एतदेकादशं प्रोक्तं पर्वातिकरुणं महत्।
सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन्नुदाहृताः ॥ १९४ ॥

इसी भारतमें अति करुणाका उत्पादक यह ग्यारहवां पर्व है। इस पर्वमें सत्ताइस अध्याय रचे गए हैं ॥ १९४ ॥

९१ २७अध्याय ७७५श्लोक

श्लोकाः सप्तशतं चात्र पञ्चसप्ततिरुच्यते।
संख्यया भारताख्यानं कर्त्रा ह्यत्र महात्मना।
प्रणीतं सज्जनमनोवैक्लव्याश्रुप्रवर्तकम् ॥ १९५ ॥

तथा सज्जनोंके मनोंको करुणायुक्त करनेवाले तथा आंखोंमें आंसू लानेवाले सात सौ पचहत्तर संख्यासे युक्त श्लोक महाभारतके रचयिता महात्माने रचे हैं ॥ १९५ ॥

९२ शान्तिपर्व

अतः परं शान्तिपर्व द्वादशं बुद्धिवर्धनम्।
यत्र निर्वेदमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
घातयित्वा पितॄन्भ्रातॄन्पुत्रान्संबन्धिबान्धवान् ॥ १९६ ॥

इसके पश्चात् बुद्धिको बढानेवाला शान्तिपर्व नामक बारहवां पर्व है। इस पर्वमें धर्मराज युधिष्ठिर पिता, भ्राता, पुत्र तथा सम्बन्धियों आदि सबको मरवा डालनेके कारण बडे दुःखी हुए ॥ १९६ ॥

शान्तिपर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शरतल्पिकाः।
राजभिर्वेदितव्या ये सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः ॥ १९७ ॥

शरशय्या पर पडे हुए भीष्मदेवने युधिष्ठिरको उत्तम नीति चाहनेवाले राजाओंके द्वारा अवश्य जानने योग्य राजधर्म इस पर्वमें सुनाया है ॥ १९७ ॥

आपद्धर्माश्च तत्रैव कालहेतुप्रदर्शकाः ।
यान्बुद्ध्वा पुरुषः सम्यक्सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात् ।
मोक्षधर्माश्च कथिता विचित्रा बहुविस्तराः ॥ १९८ ॥

और इस पर्वमें कालके हेतु दर्शानेवाला आपद्धर्म भी बताया है । जिसे जानकर मानव सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है, इसी प्रकार इस पर्वमें बहु विस्तृत मोक्ष-धर्म भी बताया गया है ॥ १९८ ॥

द्वादशं पर्व निर्दिष्टमेतत्प्राज्ञजनप्रियम् ।
पर्वण्यत्र परिज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ।
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैव तपोधनाः ॥ १९९ ॥

ज्ञानियोंके लिए प्रिय इस बारहवें पर्वका नाम शांति पर्व है, हे तपोधनो ! इसमें तीन सौ उन्तालीस अध्याय हैं ॥ १९९ ॥

श्लोकानां तु सहस्राणि कीर्तितानि चतुर्दश ।
पञ्च चैव शतान्याहुः पञ्चविंशतिसंख्यया ॥ २०० ॥

तथा व्यासने इस पर्वमें चौदह हजार पांच सौ पच्चीस श्लोक रचे हैं ॥ २०० ॥

अत ऊर्ध्वं तु विज्ञेयमानुशासनमुत्तमम् ।
यत्र प्रकृतिमापन्नः श्रुत्वा धर्मविनिश्चयम् ।
भीष्माद्भागीरथीपुत्रात्कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ २०१ ॥

इसके पश्चात् उत्तम अनुशासन पर्व जानना चाहिए । जिसमें कुरुराज युधिष्ठिरने भागीरथीके पुत्र भीष्मका धर्मनिर्णय सुन करके अपने स्वाभाविक भावको प्राप्त कर लिया ॥ २०१ ॥

व्यवहारोऽत्र कार्त्स्न्येन धर्मार्थीयो निदर्शितः ।
विविधानां च दानानां फलयोगाः पृथग्विधाः ॥ २०२ ॥

इस पर्वमें धर्म और अर्थ संबंधी व्यवहार तथा विविध दानोंके भिन्न भिन्न फलोंको पूर्ण रूपसे बताया है ॥ २०२ ॥

तथा पात्रविशेषाश्च दानानां च परो विधिः ।
आचारविधियोगश्च सत्यस्य च परा गतिः ॥ २०३ ॥

दान लेनेवाले पात्रोंकी योग्यता, दानकी उत्तम विधि, आचार–व्यवहारके प्रकार व उनकी विधि तथा सत्यकी पराकाष्ठा भी इस पर्वमें बताई है ॥ २०३ ॥

एतत्सुबहुवृत्तान्तमुत्तमं चानुशासनम्।
भीष्मस्यात्रैव संप्राप्तिः स्वर्गस्य परिकीर्तिता ॥ २०४ ॥

ये सब उत्तम और विस्तृत वृत्तान्त इस अनुशासन पर्वमें हैं। और इसी पर्वमें भीष्मके स्वर्गप्राप्तिका भी वर्णन है ॥ २०४ ॥

(१३) १४६ अध्याय ६,७०० श्लोक

एतत्त्रयोदशं पर्व धर्मनिश्चयकारकम्।
अध्यायानां शतं चात्र षट्चत्वारिंशदेव च।
श्लोकानां तु सहस्राणि षट् सप्तैव शतानि च ॥ २०५ ॥

यह धर्म-निर्णयकारी तेरहवां पर्व है इस पर्वमें एक सौ छियालीस अध्याय और छै हजार सातसौ श्लोक रचे गये हैं ॥ २०५ ॥

(१४) आश्वमेधिक पर्व

ततोऽश्वमेधिकं नाम पर्व प्रोक्तं चतुर्दशम्।
तत्संवर्तमरुत्तीयं यत्राख्यानमनुत्तमम् ॥ २०६ ॥

इसके पश्चात् आश्वमेधिक नामक चौदहवां पर्व कथित हुआ है। इसमें संवर्त और मरुतका सुन्दर उपाख्यान है ॥ २०६ ॥

सुवर्णकोशसंप्राप्तिर्जन्म चोक्तं परीक्षितः।
दग्धस्यास्त्राग्निना पूर्वं कृष्णात्संजीवनं पुनः ॥ २०७ ॥

इस पर्वमें सुवर्ण कोषके पाने और परीक्षितके जन्मका वर्णन है। पहिले जो अस्त्राग्निसे जला दिया गया था और फिर बादमें श्रीकृष्णसे पुनः जिलाया गया ॥ २०७ ॥

चर्यायां हयमुत्सृष्टं पाण्डवस्यानुगच्छतः।
तत्र तत्र च युद्धानि राजपुत्रैरमर्षणैः ॥ २०८ ॥

यज्ञके घोडेको छोडनेपर उसके पीछे चलनेवाले अर्जुनसे स्थान स्थानमें क्रोधी राजाओंका युद्ध ॥ २०८ ॥

चित्राङ्गदायाः पुत्रेण पुत्रिकाया धनंजयः।
संग्रामे बभ्रुवाहेन संशयं चात्र दर्शितः।
अश्वमेधे महायज्ञे नकुलाख्यानमेव च ॥ २०९ ॥

(चित्रवाहन राजाकी पुत्री) चित्रांगदाके गर्भसे उत्पन्न (निज) पुत्र बभ्रुवाहनके साथ होनेवाले संग्राममें अर्जुनके प्राणों पर बन आना तथा अश्वमेध महायज्ञके कालमें नेवलेकी कथा ॥ २०९ ॥

इत्याश्वमेधिकं पर्व प्रोक्तमेतन्महाद्भुतम्।
अत्राध्यायशतं त्रिंशत्त्रयोऽध्यायाश्च शब्दिताः ॥ २१० ॥

ये सब विषय अति अद्भुत आश्वमेधिक पर्वमें वर्णित हुए हैं। इस पर्वमें एक सौ तेंतीस अध्याय कीर्तन किये हैं ॥ २१० ॥

(१४) १३७ अध्याय ३३२० श्लोक

त्रीणि श्लोकसहस्राणि तावन्त्येव शतानि च।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २११ ॥

और तीन हजार तीन सौ बीस श्लोक तत्त्वदर्शी व्यासने गिनाए हैं ॥ २११ ॥

तत आश्रमवासाख्यं पर्व पञ्चदशं स्मृतम्।
यत्र राज्यं परित्यज्य गांधारीसहितो नृपः।
धृतराष्ट्राश्रमपदं विदुरश्च जगाम ह ॥ २१२ ॥

इसके अनन्तर आश्रमवासिक नामक पन्द्रहवां पर्व कहा जाता है। इस पर्वमें गान्धारी सहित राजा धृतराष्ट्रके राज्यको छोडकर विदुरके साथ आश्रमवासके लिये वनको चले जानेका वर्णन है ॥ २१२ ॥

यं दृष्ट्वा प्रस्थितं साध्वी पृथाप्यनुययौ तदा।
पुत्रराज्यं परित्यज्य गुरुशुश्रूषणे रता ॥ २१३ ॥

अपनेसे वृद्ध आदमियोंकी सेवामें तत्पर कुन्ती भी उनको जाता हुआ देखकर पुत्रोंके राज्यको छोडकर उनके पीछे चली गई ॥ २१३ ॥

यत्र राजा हतान्पुत्रान्पौत्रानन्यांश्च पार्थिवान्।
लोकान्तरगतान्वीरानपश्यत्पुनरागतान् ॥ २१४ ॥

इसी पर्वमें राजा धृतराष्ट्रने युद्धमें मरे और परलोकको सिधारे हुए पुत्र, पौत्र और दूसरे वीर राजाओंको फिर आया हुआ देखा ॥ २१४ ॥

ऋषेः प्रसादात्कृष्णस्य दृष्ट्वाश्चर्यमनुत्तमम्।
त्यक्त्वा शोकं सदारश्च सिद्धिं परमिकां गतः ॥ २१५ ॥

उन्होंने कृष्णद्वैपायनकी कृपासे यह उत्तम और अत्याश्चर्य व्यापार देख कर गान्धारीके साथ शोकका परित्याग करके परम सिद्धि प्राप्त की ॥ २१५ ॥

यत्र धर्मं समाश्रित्य विदुरः सुगतिं गतः।
संजयश्च महामात्रो विद्वान्गावल्गणिर्वशी ॥ २१६ ॥

जितेन्द्रिय विद्वान् गावल्गणके पुत्र महामात्य संजय और विदुरने धर्मका आश्रय कर सुगति प्राप्त की ॥ २१६ ॥

ददर्श नारदं यत्र धर्मराजो युधिष्ठिरः।
नारदाच्चैव शुश्राव वृष्णीनां कदनं महत् ॥ २१७ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने नारदजीके दर्शन किए और उन्हीं नारदके मुखसे वृष्णियोंके महान् कुलक्षय होनेकी वार्ता सुनी ॥ २१७ ॥

एतदाश्रमवासाख्यं पर्वोक्तं सुमहाद्भुतम्।
द्विचत्वारिंशदध्याया: पर्वैतदभिसंख्यया ॥ २१८ ॥

यह सब वृत्तांत अति अद्भुत आश्रमवासिक पर्वमें कहे गये हैं। यह पर्व बयालीसकी संख्या वाले अध्यायोंसे युक्त है ॥ २१८ ॥

सहस्रमेकं श्लोकानां पञ्च श्लोकशतानि च।
षडेव च तथा श्लोका: संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २१९ ॥

और एक हजार, पांच सौ, छः श्लोक इसमें तत्त्वदर्शी व्यासने गिनाए हैं ॥ २१९ ॥

अत: परं निबोधेदं मौसलं पर्व दारुणं।
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा: शस्त्रस्पर्शसहा युधि।
ब्रह्मदण्डविनिष्पिष्टा: समीपे लवणाम्भस: ॥ २२० ॥

इसके अनंतर दुःखदायी मौसल–पर्वको श्रवण कीजिये। जो लोग रणभूमिमें सहज ही में अस्त्रके आघात सह लेते थे, उन सर्व पुरुषोंमें श्रेष्ठ यादवगणोंने ब्रह्मशापरूपी दण्डसे पीडित होकर समुद्र–तटके पास ॥ २२० ॥

आपाने पानगलिता दैवेनाभिप्रचोदिता:।
एरकारूपिभिर्वज्रैर्निजघ्नुरितरेतरम् ॥ २२१ ॥

मदिरा पीनेकी सभामें पीकर तथा दैवसे प्रेरित होकर एरका तृणरूपी वज्राघातसे एक दूसरेको मार दिया ॥ २२१ ॥

यत्र सर्वक्षयं कृत्वा तावुभौ रामकेशवौ।
नातिचक्रमतु: कालं प्राप्तं सर्वहरं समम् ॥ २२२ ॥

इस प्रकार बलराम, कृष्ण, दोनोंने संपूर्ण यदुवंशका नाश कर स्वयं भी सर्वसंहारी समदर्शी कालका उल्लंघन नहीं कर पाये ॥ २२२ ॥

यत्रार्जुनो द्वारवतीमेत्य वृष्णिविनाकृताम्।
दृष्ट्वा विषादमगमत्परां चार्तिं नरर्षभ: ॥ २२३ ॥

नरश्रेष्ठ अर्जुन द्वारकामें आकर और उसे यादवोंसे खाली पाकर बडी मनःपीडासे दुःखको प्राप्त हुए ॥ २२३ ॥

स सत्कृत्य यदुश्रेष्ठं मातुलं शौरिमात्मन:।
ददर्श यदुवीराणामापाने वैशसं महत् ॥ २२४ ॥

उन्होंने अपने मामा यदुकुलमें श्रेष्ठ वसुदेवका सत्कार करके सुरापान सभामें यदुवंशी वीरोंका भयंकर विनाश देखा ॥ २२४ ॥

शरीरं वासुदेवस्य रामस्य च महात्मनः ।
संस्कारं लम्भयामास वृष्णीनां च प्रधानतः ॥ २२५ ॥

फिर उन्होंने महात्मा बलराम, श्री कृष्णचन्द्र और प्रधान प्रधान यदुवंशियोंके शरीरोंका दाह संस्कार किया ॥ २२५ ॥

स वृद्धबालमादाय द्वारवत्यास्ततो जनम् ।
ददर्शापदि कष्टायां गाण्डीवस्य पराभवम् ॥ २२६ ॥

और द्वारकासे बाल, वृद्ध आदि सभी जनोंको लाते समय पथमें घोर आपत्तिसे घेर लिये जाने पर निज गाण्डीव धनुषकी पराजय देखी ॥ २२६ ॥

सर्वेषां चैव दिव्यानामस्त्राणामप्रसन्नताम् ।
नाशं वृष्णिकलत्राणां प्रभावानामनित्यताम् ॥ २२७ ॥

और सभी दिव्यास्त्रोंकी प्रतिकूलता देखी । तथा उन्होंने यादव–नारियोंका नाश और विक्रमकी अनित्यता देखकर ॥ २२७ ॥

दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नो व्यासवाक्यप्रचोदितः ।
धर्मराजं समासाद्य संन्यासं समरोचयत् ॥ २२८ ॥

बडे उदास होकर तथा व्यासके वचनोंसे प्रेरित होकर युधिष्ठिरके निकट लौट करके संन्यास-आश्रमकी शरण लेनेकी अभिलाषा प्रकट की ॥ २२८ ॥

(९६) इत्येतन्मौसलं पर्व षोडशं परिकीर्तितम् ।
8 अध्याय 200 श्लोक अध्यायाष्टौ समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥ २२९ ॥

यह सोलहवां पर्व मौसल पर्व कहा गया है । इस पर्वमें आठ अध्याय और तीन सौ श्लोक रचे गये हैं ॥ २२९ ॥

महाप्रस्थानिकं तस्मादूर्ध्वं सप्तदशं स्मृतम् ।
(९७) महाप्रस्थानिक यत्र राज्यं परित्यज्य पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
द्रौपद्या सहिता देव्या सिद्धिं परमिकां गताः ॥ २३० ॥

इसके पश्चात् महाप्रस्थानिक नामक सत्रहवां पर्व है । जिस पर्वमें पुरुष-श्रेष्ठ पाण्डवोंने देवी द्रौपदीके साथ राज्य छोडकर परम सिद्धिको प्राप्त किया ॥ २३० ॥

(९७) 3 अध्याय 120 श्लोक अत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतं तथा ।
विंशतिश्च तथा श्लोकाः संख्यातास्तत्त्वदर्शिना ॥ २३१ ॥

इस पर्वमें तत्त्वदर्शी महर्षिने तीन अध्याय और एक सौ बीस श्लोक कीर्तन किये हैं ॥ २३१ ॥

स्वर्गपर्व ततो ज्ञेयं दिव्यं यत्तदमानुषम् ।
अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वैतदभिसंख्यया ।
श्लोकानां द्वे शते चैव प्रसंख्याते तपोधनाः ॥ २३२ ॥

९८ स्वर्गारोहण

अनन्तर अमानुषी आश्चर्यवाला स्वर्गारोहण पर्व जानना चाहिए । हे तपोधनो ! संख्याकी दृष्टिसे इस पर्वमें पांच अध्याय और दो सौ श्लोक गिनाए हैं ॥ २३२ ॥

९८ ५ अध्याय २०० श्लोक

अष्टादशैवमेतानि पर्वाण्युक्तान्यशेषतः ।
खिलेषु हरिवंशश्च भविष्यच्च प्रकीर्तितम् ॥ २३३ ॥

इस प्रकारसे संपूर्ण अठारह पर्व कहे गये हैं। इसके पश्चात् खिल (परिशिष्ट) भागमें हरिवंश और भविष्य पर्वोंका वर्णन है ॥ २३३ ॥

एतदखिलमाख्यातं भारतं पर्वसंग्रहात् ।
अष्टादश समाजग्मुरक्षौहिण्यो युयुत्सया ।
तन्महद्दारुणं युद्धमहान्यष्टादशाभवत् ॥ २३४ ॥

इन सब पर्वोंसे युक्त महाभारत कहा है। अठारह अक्षौहिणी सेना युद्ध करनेके निमित्त इकठी हुई और यह भयंकर युद्ध अठारह दिनोंतक चला ॥ २३४ ॥

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदान्द्विजः ।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥ २३५ ॥

जो ब्राह्मण चतुर्वेद, वेदांग और संपूर्ण उपनिषद् भी पढा हो, पर महाभारतीय उपाख्यान न जानता हो, वह बुद्धिमान् नहीं हो सकता ॥ २३५ ॥

श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते ।
पुंस्कोकिलरुतं श्रुत्वा रूक्षा ध्वाङ्क्षस्य वागिव ॥ २३६ ॥

जैसे कोयलका मधुर कूजन सुन कर फिर कौवेकी कर्कश बोली सुननेकी इच्छा नहीं होती, वैसे ही इस उपाख्यानको सुननेके बाद और कुछ सुननेकी अभिलाषा नहीं रहती ॥ २३६ ॥

इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः ।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः ॥ २३७ ॥

जैसे पंच भूतोंसे तीनों प्रकारके लोकोंकी उत्पत्ति होती है वैसे ही इस सर्व श्रेष्ठ इतिहाससे कवित्व बुद्धि उपजती है ॥ २३७ ॥

अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः ।
अन्तरिक्षस्य विषये प्रजा इव चतुर्विधाः ॥ २३८ ॥

हे ब्राह्मणो ! जैसे (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज यह) चारों प्रकारकी प्रजाएं आकाशमें ही रहती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पुराण इस उपाख्यानमें हैं ॥ २३८ ॥

जरायुज -
अण्डज -
उद्भिज -
स्वेदज -

क्रियागुणानां सर्वेषामिदमाख्यानमाश्रयः ।
इन्द्रियाणां समस्तानां चित्रा इव मनःक्रियाः ॥ २३९ ॥

जैसे विचित्र विचित्र चित्तक्रियायें सब इन्द्रियोंको आश्रय देनेवाली हैं वैसे ही यह उपाख्यान (दान, अध्ययन आदि) क्रिया और (शम, दम आदि) गुणोंका आश्रय है ॥ २३९ ॥

अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते ।
आहारमनपाश्रित्य शरीरस्येव धारणम् ॥ २४० ॥

जैसे भोजनके विना शरीरका धारण नहीं हो सकता, वैसे ही इस उपाख्यानके आश्रयके बिना भूमण्डलमें कोई भी आख्यान विद्यमान नहीं है ॥ २४० ॥

इदं सर्वैः कविवरैराख्यानमुपजीव्यते ।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः ॥ २४१ ॥

जैसे उन्नति चाहनेवाले भृत्य कुलीन राजाकी शरण लेते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ कविकुल (कवित्व शक्तिकी उन्नतिके लिये) इस महाभारतका आश्रय लेते हैं ॥ २४१ ॥

द्वैपायनौष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥२४२॥

महाभाग्यवान् द्वैपायनके दोनों होठोंसे निकले हुए, अप्रमेय, पुण्यदायक, परम पवित्र, पाप-विनाशी, परम कल्याणकारक इस महाभारतके पाठको पढे जाते हुए जो सुनते हैं उनको पुष्करतीर्थके जलमें नहानेकी क्या जरुरत ? ॥ २४२ ॥

आख्यानं तदिदमनुत्तमं महार्थं विन्यस्तं महदिह पर्वसंग्रहेण ।
श्रुत्वादौ भवति नृणां सुखावगाहं विस्तीर्णं लवणजलं यथा प्लवेन ॥ २४३ ॥

इति श्री महाभारते आदिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥ समाप्तं पर्वसंग्रहपर्व ॥ ४५३ ॥

जैसे मनुष्यगण नाव द्वारा परम सुखसे खारे जलवाले विस्तीर्ण समुद्रको पार कर जाते हैं, वैसे ही पहिले इस पर्वसंग्रहको सुननेसे इसके द्वारा अतिश्रेष्ठ गंभीर अर्थवाले इस महत् आख्यानरूपी सागरको सुखसे पार कर सकते हैं ॥ २४३ ॥

इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें दूसरा अध्याय और पर्वसंग्रह पर्व समाप्त हुआ ॥ ४५३ ॥

: ३ :

सूत उवाच

जनमेजयः पारिक्षितः सह भ्रातृभिः कुरुक्षेत्रे दीर्घसत्र-
मुपास्ते। तस्य भ्रातरस्त्रयः श्रुतसेन उग्रसेनो भीमसेन
इति॥ १॥ तेषु तत्सत्रमुपासीनेषु तत्र श्वाभ्यागच्छत्सारमेयः।
स जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतो रोरूयमाणो मातुः समीप-
मुपागच्छत्॥ २॥ तं माता रोरूयमाणमुवाच। किं रोदिषि।
केनास्यभिहत इति॥ ३॥ स एवमुक्तो मातरं प्रत्युवाच।
जनमेजयस्य भ्रातृभिरभिहतोऽस्मीति॥ ४॥

सूत बोले—परीक्षितके पुत्र महाराज जनमेजयने अपने भाइयोंके साथ कुरुक्षेत्रमें दीर्घ यज्ञका अनुष्ठान किया। उस जनमेजयके श्रुतसेन, उग्रसेन और भीमसेन ये तीन भाई थे॥ १॥ यज्ञ करते हुए उनके उस यज्ञानुष्ठानके कालमें वहां सरमाका पुत्र कुत्ता आकर उपस्थित हुआ। जनमेजयके भाइयोंके द्वारा मारे जाने पर वह बहुत रोता हुआ अपनी माताके पास जा पहुंचा॥ २॥ उसे बुरी तरह रोते हुए देखकर माताने पूछा "तुम क्यों रो रहे हो? किसने तुमको मारा है?" ॥ ३॥ इस प्रकार पूछे जानेपर कुत्तेने मातासे कहा कि "जनमेजयके भाइयोंने मुझे मारा है।" ॥ ४॥

तं माता प्रत्युवाच। व्यक्तं त्वया तत्रापराद्धं येनास्यभिहत
इति॥ ५॥ स तां पुनरुवाच। नापराध्यामि किंचित्। नावेक्षे
हवींषि नावलिह इति॥ ६॥ तच्छ्रुत्वा तस्य माता सरमा
पुत्रशोकार्ता तत्सत्रमुपागच्छद्यत्र स जनमेजयः सह भ्रातृ-
भिर्दीर्घसत्रमुपास्ते॥ ७॥ स तया क्रुद्धया तत्रोक्तः। अयं मे
पुत्रो न किंचिदपराध्यति। किमर्थमभिहत इति। यस्माच्चाय-
मभिहतोऽनपकारी तस्माददृष्टं त्वां भयमागमिष्यतीति॥८॥

उसकी माताने उत्तर दिया "स्पष्ट है कि तुमने वहां कोई अपराध किया होगा जिसके कारण उन्होंने तुमको मारा है।" ॥ ५॥ कुत्तेने मातासे फिर कहा "नहीं, मैंने कोई अपराध नहीं किया। यज्ञका घृत भी नहीं चाटा और न उसकी तरफ देखा ही।" ॥ ६॥ यह सुन कर पुत्रके दुःखसे दुःखी उसकी माता सरमा उस यज्ञस्थल पर गई, जहां जनमेजय अपने भाइयोंके साथ दर्वियज्ञ कर रहे थे॥ ७॥ वहां जाकर क्रोधसे उसने जनमेजयसे कहा, "मेरे इस पुत्रने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया। फिर तुम लोगोंने उसको क्यों मारा? अतः चूंकि तुमने मेरे निर्दोषी पुत्रको मारा है, इसलिए तुमको अलक्षित भय आकर घेर लेगा।" ॥ ८॥

स जनमेजय एवमुक्तो देवशुन्या सरमया दृढं संभ्रान्तो विषण्णश्चासीत् ॥ ९ ॥ स तस्मिन्सत्रे समाप्ते हास्तिनपुरं प्रत्येत्य पुरोहितमनुरूपमन्विच्छमानः परं यत्नमकरोद्यो मे पापकृत्यां शमयेदिति ॥ १० ॥ स कदाचिन्मृगयां यातः पारिक्षितो जनमेजयः कस्मिंश्चित्स्वविषयोद्देशे आश्रमम-पश्यत् ॥ ११ ॥ तत्र कश्चिदृषिरासांचक्रे श्रुतश्रवा नाम । तस्याभिमतः पुत्र आस्ते सोमश्रवा नाम ॥ १२ ॥

देवोंकी कुतिया सरमाके द्वारा इस प्रकारसे शाप देनेपर जनमेजय घबरा गया और बहुत दुःखी हुआ ॥ ९ ॥ उस यज्ञके समाप्त होनेपर महाराज जनमेजयने हस्तिनापुरमें आकर किसी ऐसे योग्य पुरोहितको ढूंढनेके लिये बडा प्रयत्न किया कि जो मेरे इस पापकर्मको शान्त कर सके ॥ १० ॥ एक दिन शिकार पर निकले हुए परीक्षितके पुत्र जनमेजयने अपने राज्य ही के किसी एक प्रदेशमें एक आश्रम देखा ॥ ११ ॥ उस आश्रममें श्रुतश्रवा नामक कोई ऋषि रहते थे । उनका सोमश्रवा नामक एक परम प्रिय पुत्र था ॥ १२ ॥

तस्य तं पुत्रमभिगम्य जनमेजयः पारिक्षितः पौरोहित्याय वव्रे ॥ १३ ॥ स नमस्कृत्य तमृषिमुवाच । भगवन्नयं तव पुत्रो मम पुरोहितोऽस्त्विति ॥ १४ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच । भो जनमेजय पुत्रोऽयं मम सर्प्यां जातः । महातपस्वी स्वाध्याय-संपन्नो मत्तपोवीर्यसंभृतो मच्छुक्रं पीतवत्यास्तस्याः कुक्षौ संवृद्धः । समर्थोऽयं भवतः सर्वाः पापकृत्याः शमयितुमन्तरेण महादेवकृत्याम् । अस्य त्वेकमुपांशुव्रतम् । यदेनं कश्चिद्ब्राह्मणः कंचिदर्थमभियाचेत्तं तस्मै दद्यादयम् । यद्येतदुत्सहसे ततो

परीक्षितके पुत्र जनमेजयने उस ऋषिपुत्रके पास जाकर पुरोहितके कर्मके लिए उसका वरण किया ॥ १३ ॥ और उसके पिताको प्रणाम कर बोला "हे भगवन्! आपका यह पुत्र मेरे पुरोहित होवे ।" ॥ १४ ॥ जनमेजयके ऐसी प्रार्थना करनेपर ऋषिवर बोले "हे जनमेजय! मेरा यह पुत्र एक सांपिन से उत्पन्न हुआ है। महातपस्वी, स्वाध्याय युक्त और मेरा तपोवीर्यसे युक्त यह पुत्र मेरे वीर्यको पी जानेवाली एक सांपिनके गर्भमें बढा है। यह महादेवके द्वारा प्रेरित पाप कृत्याको छोडकर तुम्हारे अन्य सब पापकृत्याओंको शान्त करनेमें समर्थ है । इसका एक गूढ नियम है । कि कोई ब्राह्मण इससे जो कुछ मांगेगा यह उसको वही दान दे देगा। यदि तुम इस बातका साहस कर सको तो मेरे इस

नयस्वैनामिति ॥ १५ ॥ तेनैवमुक्तो जनमेजयस्तं प्रत्युवाच।
भगवंस्तथा भविष्यतीति ॥ १६ ॥

पुत्रको ले जाओ।" ॥ १५ ॥ ऋषिके ऐसा कहने पर जनमेजय उससे बोले "भगवन्! आप जो कहते हैं, वही होगा।" ॥ १६ ॥

स तं पुरोहितमुपादायोपावृत्तो भ्रातॄनुवाच। मयायं वृत उपाध्यायः। यदयं ब्रूयात्तत्कार्यमविचारयद्भिरिति ॥ १७ ॥ तेनैवमुक्ता भ्रातरस्तस्य तथा चक्रुः। स तथा भ्रातॄन्संदिश्य तक्षशिलां प्रत्यभिप्रतस्थे। तं च देशं वशे स्थापयामास ॥ १८ ॥
एतस्मिन्नन्तरे कश्चिदृषिर्धौम्यो नामायोदः। तस्य शिष्यास्त्रयो बभूवुरुपमन्युरारुणिर्वेदश्चेति ॥ १९ ॥ स एकं शिष्यमारुणिं पाञ्चाल्यं प्रेषयामास। गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २० ॥

वह पुरोहितको साथमें लेकर राजधानीमें आकर भाइयोंसे बोला "इस ऋषिकुमारका मैंने पुरोहितके रूपमें वरण किया है। यह जो कुछ कहे, तुम उसे विना विचारे पूरा करो।" ॥१७॥ जनमेजयके भ्रातृगण इस प्रकार आदिष्ट होकर ऋषिकुमारकी आज्ञाका पालन करने लगे। महाराज जनमेजय भाइयोंको वैसी आज्ञा देकर तक्षशिला देशको जीतने चले गये और उस देशको उन्होंने अपने वशमें कर लिया॥ १८ ॥ इसी बीच उस समय लोहेके दांतवाले धौम्य नामक एक ऋषि रहते थे। उनके उपमन्यु, आरुणि और वेद नामके तीन शिष्य थे ॥ १९ ॥ ऋषिने एक वार पांचालदेशीय शिष्य आरुणिको (यह आज्ञा देकर) भेजा कि "तुम खेतमें जाकर क्यारियोंके बांध बांधो" ॥ २० ॥

स उपाध्यायेन संदिष्ट आरुणिः पाञ्चाल्यस्तत्र गत्वा तत्केदारखण्डं बद्धुं नाशक्नोत् ॥ २१ ॥ स क्लिश्यमानोऽपश्यदुपायम्। भवत्वेवं करिष्यामीति ॥ २२ ॥ स तत्र संविवेश केदारखण्डे। शयाने तस्मिंस्तदुदकं तस्थौ ॥ २३ ॥ ततः कदाचिदुपाध्याय आयोदो धौम्यः शिष्यानपृच्छत्। क्व आरुणिः पाञ्चाल्यो गत इति ॥ २४ ॥

पाञ्चालदेशीय आरुणि गुरुसे आदिष्ट होकरके वहां जाकर (बडे बडे कष्ट उठाने पर भी) बांधको बांध नहीं सका, ॥ २१ ॥ बहुत परिश्रम करनेके बाद उसने एक उपाय देखा और बोला कि— "ठीक है अब ऐसा ही करूंगा।" ॥ २२ ॥ और यह कहकर वह वहीं एक क्यारीमें लेट गया। उसके लेट जानेपर वह जल भी रुक गया ॥ २३ ॥ इसके बाद एकदिन उपाध्याय अयोदधौम्यने शिष्योंसे पूछा "पाञ्चालदेशीय आरुणि कहां गया है?" ॥ २४ ॥

धौम्य परितम धौम्य

ते प्रत्यूचुः । भगवतैव प्रेषितो गच्छ केदारखण्डं बधानेति ॥ २५ ॥ स एवमुक्तस्ताञ्शिष्यान्प्रत्युवाच । तस्मात्सर्वे तत्र गच्छामो यत्र स इति ॥ २६ ॥ स तत्र गत्वा तस्याह्वानाय शब्दं चकार । भो आरुणे पाञ्चाल्य क्वासि । वत्सैहीति ॥२७॥ स तच्छ्रुत्वा आरुणिरुपाध्यायवाक्यं तस्मात्केदारखण्डात्सहसोत्थाय तमुपाध्यायमुपतस्थे । प्रोवाच चैनम् । अयमस्म्यत्र केदारखण्डे निःसरमाणमुदकमवारणीयं संरोद्धुं संविष्टो भगवच्छब्दं श्रुत्वैव सहसा विदार्य केदारखण्डं भवन्तमुपस्थितः । तदभिवादये भगवन्तम् । आज्ञापयतु भवान् । किं करवाणीति ॥ २८ ॥

शिष्योंने उत्तर दिया, भगवन् ! आपहीने उसको यह कहकर भेजा है कि– "जाओ खेतका बांध बांध दो ।" ॥ २५ ॥ इस प्रकार कहे जाने पर धौम्यने शिष्योंसे कहा, "चलो, जहां आरुणि गया है, हम सब वहीं चलें ।" ॥२६॥ वह बांधके पास पहुंचकर चिल्लाकरके पुकारने लगे "पांचाल्य आरुणे ! कहां हो ? हे पुत्र ! चले आओ ।" ॥ २७ ॥ आरुणि उपाध्यायकी आवाज सुनकर उस बांधसे एकाएक उठकर उनके निकट उपस्थित हुआ और उनसे बोला "भगवन् ! मैं यहां हूं; आपके खेतमेंसे निकलनेवाले तथा न रुकनेवाले जलको रोकनेके लिए वहीं पर लेटे हुए मैंने आपका शब्द सुना, इसीसे एकाएक खेतको तोड कर आपके पास आ पहुंचा हूं । आपको प्रणाम करता हूं । आप आज्ञा दीजिये । इस समय कौनसा कार्य करूं ।" ॥ २८ ॥

तमुपाध्यायोऽब्रवीत् । यस्माद्भवान्केदारखण्डमवदार्योत्थितस्तस्माद्भवानुद्दालक एव नाम्ना भविष्यतीति ॥२९॥ स उपाध्यायेनानुगृहीतः । यस्मात्त्वया मद्वचोऽनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसीति । सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्म-

(आरुणिकी बात पूरी होने पर) उपाध्यायने उससे कहा, "बेटा । चूंकि तुम बांधको विना तोडे ही निकलकर आये हो, सो तुम उद्दालक नामसे प्रसिद्ध होगे ।" ॥ २९ ॥ उस पर उपाध्यायने कृपा की । "क्योंकि तुमने मेरी आज्ञाका पालन किया है, सो तुम कल्याणको प्राप्त करोगे और सम्पूर्ण वेद और धर्मशास्त्र तुम्हारे मनमें प्रकाशित रहेंगे" ॥ ३० ॥

शास्त्राणीति ॥ ३० ॥ स एवमुक्त उपाध्यायेनेष्टं देशं जगाम ॥ ३१ ॥ अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्योपमन्यु-र्नाम ॥ ३२ ॥

आगे आरुणि उपाध्यायकी आज्ञासे अपने इष्ट देशको पधारा ॥ ३१ ॥ उसी अयोदधौम्यके दूसरे शिष्यका नाम उपमन्यु था ॥ ३२ ॥

तमुपाध्यायः प्रेषयामास। वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति ॥ ३३ ॥ स उपाध्यायवचनादरक्षद्गाः। स चाहनि गा रक्षित्वा दिव-सक्षयेऽभ्यागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३४ ॥ तमुपाध्यायः पीवानमपश्यत्। उवाच चैनम्। वत्सोपमन्यो केन वृत्तिं कल्पयसि। पीवानसि दृढमिति ॥ ३५ ॥ स उपा-ध्यायं प्रत्युवाच। भैक्षेण वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ३६ ॥

उपाध्यायने उसको भेजा "बेटा! तुम गोरक्षा करो" ॥ ३३ ॥ उपमन्यु उपाध्यायकी आज्ञानुसार गोरक्षा करने लगा। दिनभर गायकी रक्षा करके संध्याको वापस आता और गुरुके सामने आकर नमन किया करता था ॥ ३४ ॥ एक दिन उपाध्यायने उसको पुष्ट देखा और इससे बोले, "बेटा उपमन्यो! तुम किससे अपनी जीविका चलाते हो। तुमको बहुत पुष्ट देखता हूं" ॥ ३५ ॥ उपमन्यु उपाध्यायसे बोला, "मैं भिक्षासे अपनी जीविका-का निर्वाह कर लेता हूं।" ॥ ३६ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। ममानिवेद्य भैक्षं नोपयोक्तव्यमिति ॥ ३७ ॥ स तथेत्युक्त्वा पुनररक्षद्गाः। रक्षित्वा चागम्य तथै-वोपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ३८ ॥ तमुपाध्यायस्त-थापि पीवानमेव दृष्ट्वोवाच। वत्सोपमन्यो सर्वमशेषतस्ते भैक्षं गृह्णामि। केनेदानीं वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ३९ ॥ स एव-मुक्त उपाध्यायेन प्रत्युवाच। भगवते निवेद्य पूर्वमपरं चरामि। तेन वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४० ॥

उपाध्याय बोले कि, "मेरी आज्ञाके विना भिक्षाके अन्नका भोजन नहीं करना चाहिए।" ॥ ३७ ॥ "ऐसा ही होगा" कहकर वह फिर गौ की रक्षा करने लगा। इस प्रकार गो-रक्षा कर उपाध्यायके समक्ष जाकर उन्हें नमस्कार किया करता था ॥ ३८ ॥ उस पर भी उसको पुष्ट देखकर उपाध्याय बोले, "बेटा उपमन्यो! तुम्हारा सब भिक्षान्न तो मैं ले लेता हूं। अब तुम किस प्रकारसे भोजन कार्यका निर्वाह करते हो?" ॥ ३९ ॥ उपा-ध्यायसे इस प्रकार पूछे जाने पर उपमन्यु बोला, "पहिली बारकी भिक्षा आपको दे कर मैं फिर दूसरी बार भिक्षा मांगता हूं। उसीसे मेरी जीविकाका निर्वाह होता है।" ॥ ४० ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । नैषा न्याय्या गुरुवृत्तिः । अन्ये-
षामपि वृत्त्युपरोधं करोष्येवं वर्तमानः । लुब्धोऽसीति ॥ ४१ ॥
स तथेत्युक्त्वा गा अरक्षत् । रक्षित्वा च पुनरुपाध्यायगृह-
मागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४२ ॥ तमुपा-
ध्यायस्तथापि पीवानमेव दृष्ट्वा पुनरुवाच । अहं ते सर्वं
भैक्षं गृह्णामि न चान्यच्चरसि । पीवानसि । केन वृत्तिं कल्प-
यसीति ॥ ४३ ॥ स उपाध्यायं प्रत्युवाच । भो एतासां गवां
पयसा वृत्तिं कल्पयामीति ॥ ४४ ॥

उपाध्याय उससे बोले, "ऐसा करना गुरुकुलमें रहनेवालेको उचित नहीं है। ऐसा करते हुए तुम दूसरे भिक्षार्थियोंकी वृत्तिको मार देते हो। तुम लोभी हो ॥ ४१ ॥ उपमन्यु यह कह कर कि "फिर ऐसा न करूंगा" पूर्ववत् गोरक्षा करने लगा। गो-रक्षा करके गुरुके घरमें आकर पूर्ववत् गुरुके सामने खडा होकर नमस्कार किया करता था ॥ ४२ ॥ उपाध्यायने उस पर भी उसको पूर्ववत् पुष्ट देखकर फिर पूछा। "बेटा उपमन्यो! तुम्हारी सब भिक्षा तो मैं ले लेता हूं, फिर दूसरी बार तुम भिक्षा भी नहीं मांगते हो। उस पर भी तुमको बहुत पुष्ट देखता हूं। इन दिनों तुम क्या खाते हो?" ॥ ४३ ॥ उपमन्यु उपाध्यायसे बोला "इन गौओंका दूध पीकर जीवननिर्वाह करता हूं ॥ ४४ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच । नैतन्न्याय्यं पय उपयोक्तुं भवतो
मयाननुज्ञातमिति ॥ ४५ ॥ स तथेति प्रतिज्ञाय गा रक्षित्वा
पुनरुपाध्यायगृहानेत्य गुरोरग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे ॥ ४६ ॥
तमुपाध्यायः पीवानमेवापश्यत् । उवाच चैनम् । भैक्षं
नाश्नासि न चान्यच्चरसि । पयो न पिबसि । पीवानसि । केन
वृत्तिं कल्पयसीति ॥ ४७ ॥ स एवमुक्त उपाध्यायं प्रत्युवाच ।
भोः फेनं पिबामि यमिमे वत्सा मातॄणां स्तनं पिबन्त
उद्गिरन्तीति ॥ ४८ ॥

उपाध्याय उससे बोले, "मेरी आज्ञाके विना तुम्हारा दूध पीना उचित नहीं है" ॥ ४५ ॥ उपमन्यु तथास्तु कहकर प्रतिज्ञापूर्वक गोरक्षा करके फिर गुरुके घरमें आकर पूर्ववत् नमस्कार कर खडा हुआ ॥ ४६ ॥ उपाध्यायने उसको पूर्ववत् पुष्ट देखा और इससे कहा, "भिक्षान्नका भोजन नहीं करते, दूसरी बार भिक्षा भी नहीं मांगते। दूध भी नहीं पीते, तो भी पुष्ट हो, अब किस प्रकारसे भूख मिटाते हो?" ॥ ४७ ॥ उपाध्यायके ऐसा कहनेपर उपमन्यु उपाध्यायसे बोला, "बछडे अपनी अपनी माताओंके स्तन पीते हुए जो फेन (झाग) गिराते हैं, मैं उसीको पीकर प्राण बचाता हूं" ॥ ४८ ॥

तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। एते त्वदनुकम्पया गुणवन्तो वत्साः प्रभूततरं फेनमुद्गिरन्ति। तदेवमपि वत्सानां वृत्त्युपरोधं करो-ष्येवं वर्तमानः। फेनमपि भवान्न पातुमर्हतीति ॥ ४९ ॥ स तथेति प्रतिज्ञाय निराहारस्ता गा अरक्षत्। तथा प्रतिषिद्धो भैक्षं नाश्नाति न चान्यच्चरति। पयो न पिबति। फेनं नोप-युंक्ते ॥ ५० ॥ स कदाचिदरण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्यभक्ष-यत् ॥ ५१ ॥ स तैरर्कपत्रैर्भक्षितैः क्षारकटूष्णविपाकिभिश्चक्षु-ष्युपहतोऽन्धोऽभवत्। सोऽन्धोऽपि चङ्क्रम्यमाणः कूपेऽप-पतत् ॥ ५२ ॥

सुनकर उपाध्याय उससे बोले, "यह सब गुणवान् बछडे तुमपर दया करके बहुत अधिक फेन गिराते हैं। इस प्रकार तुम उसी फेनको पीकर बछडोंकी वृत्तिका लोप करते हो। सो फेन पीना भी तुम्हारे लिए अनुचित है ॥४९॥ उपमन्यु तथास्तु कह कर अंगीकार करके निराहार होकर गोरक्षा करने लगा। पर गुरुके मना करनेके कारण उसने न तो भिक्षान्न खाया, न दूसरी बार भिक्षा मांगी, न दूध पिया और न उगला हुआ फेन ही पिया ॥५०॥ अतः एक दिन वनमें भूखसे अति कातर होकर उसने मदार (आक–अकौव्वा) का पत्ता खा लिया ॥ ५१ ॥ खारे, कडुए तथा उष्णता पैदा करनेवाले उन पत्तोंको खानेके कारण वह अपनी आंखोंको खोकर अन्धा हो गया। वह अन्धा होकर भी वनमें घूमता हुआ एक कुंएमें गिर पडा ॥ ५२ ॥

अथ तस्मिन्ननागच्छत्युपाध्यायः शिष्यानवोचत्। मयोपमन्युः सर्वतः प्रतिषिद्धः। स नियतं कुपितः। ततो नागच्छति चिर-गतश्चेति ॥ ५३ ॥ स एवमुक्त्वा गत्वारण्यमुपमन्योराह्वानं चक्रे। भो उपमन्यो क्वासि। वत्सैहीति ॥५४॥ स तदाह्वानमुपा-ध्यायाच्छ्रुत्वा प्रत्युवाचोच्चैः। अयमस्मि भो उपाध्याय कूपे पतित इति ॥ ५५ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। कथमसि कूपे पतित इति ॥ ५६ ॥

इसके बाद उपमन्युके न लौटने पर उपाध्याय शिष्योंसे बोले– "मैंने उसको सब प्रकारके भोजन करनेसे मना कर दिया था। इससे वह निःसंदेह क्रोधित हो गया होगा। अतः बहुत देरसे गया हुआ वह अब तक लौटकर नहीं आया ॥५३॥ यह कहकर शिष्योंके संग वनमें जाकर उपमन्युको पुकारने लगे, "हे उपमन्यो! कहां हो? हे पुत्र! आओ ॥५४॥ उपमन्यु गुरुकी पुकार सुनकर जोरसे चिल्लाकर बोला, "हे उपाध्याय! मैं इस कूपमें पडा हुआ हूं।" ॥ ५५ ॥ उपाध्यायने पूछा, "तुम कूपमें कैसे जा गिरे?" ॥ ५६ ॥

स तं प्रत्युवाच। अर्कपत्राणि भक्षयित्वान्धीभूतोऽस्मि। अतः कूपे पतित इति ॥५७॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। अश्विनौ स्तुहि। तौ त्वां चक्षुष्मन्तं करिष्यतो देवभिषजाविति ॥५८॥ स एवमुक्त उपाध्यायेन स्तोतुं प्रचक्रमे देवावश्विनौ वाग्भिर्ऋग्भिः ॥५९॥

उपमन्यु उससे बोला– " मदार (आक) का पत्ता खाकर मैं अंधा हो गया हूं, अतः कूपमें गिर गया " ॥५७॥ उपाध्याय उससे बोले— " दोनों अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करो। वे देवताओंके चिकित्सक तुम्हें आंखोंवाला बना देंगे ॥ ५८ ॥ उपाध्यायकी ऐसी आज्ञा पाकर उपमन्यु ऋग्वेद–विहित वाक्योंसे दोनों अश्विनीकुमारोंका स्तवन करने लगा ॥५९॥

प्रपूर्वगौ पूर्वजौ चित्रभानू गिरा वा शंसामि तपनावनन्तौ।
दिव्यौ सुपर्णौ विरजौ विमानावधिक्षियन्तौ भुवनानि विश्वा ॥ ६० ॥

हे अश्विनी देवो ! तुम सृष्टिके पूर्व भी विद्यमान थे, तुम (हिरण्यगर्भके रूपमें) सबसे पहले उत्पन्न हुए। तुम अनेक तरहके प्रपंचकी सहायतासे सर्वत्र प्रकाशित होते हो। तुम दोनों अत्यन्त तेजस्वी हो, तुम्हारे अन्तको कोई नहीं पा सकता अर्थात् तुम अनन्त हो। मैं वाणीसे तुम दोनोंकी स्तुति करता हूं। तुम दो विराट्रूपी वृक्षके अलौकिक और उत्तम पंखोंसे युक्त पक्षी हो। आपको रजोगुण छू भी नहीं सकता (अर्थात् सदा सत्वगुणमें ही रहते हो), आपके स्वरूपको कोई माप नहीं सकता। इन सब भुवनोंके ऊपर आपका शासन चल रहा है ॥ ६० ॥

हिरण्मयौ शकुनी सांपरायौ नासत्यदस्रौ सुनसौ वैजयन्तौ।
शुक्रं वयन्तौ तरसा सुवेमावभि व्ययन्तावसितं विवस्वत् ॥ ६१ ॥

आप सुन्दर और आसक्तिरहित हिरण्मयपक्षी हैं, आप ही इस जगत्के संहारके कारण हैं। असत्य और नश्वरसे आप दोनों परे हैं। आप दोनों सुन्दर आकृतिवाले, सुन्दर नाकवाले और काल पर भी विजय प्राप्त करनेवाले हैं। आप दोनों स्वयं सूर्यरूप धारण करके दिन और रातरूपी सफेद और काले धागोंके तानों बानोंसे संवत्सररूपी कपडा इस जगत्रूपी खड्डी पर बडे वेगसे बुन रहे हैं ॥ ६१ ॥

ग्रस्तां सुपर्णस्य बलेन वर्तिकाममुञ्चतामश्विनौ सौभगाय।
तावत्सुवृत्तावनमन्त मायया सत्तमा गा अरुणा उदावहन् ॥ ६२ ॥

जीवरूपी बटेर पक्षीके सुपर्णरूपी परमात्माकी कालशक्तिसे ग्रसित होने पर उसको महत् सौभाग्यके लिए तुमने उसे छुडाया। मायामें आसक्त; रागादिविपर्ययोंसे जकडे हुए बडे मूर्ख जनोंको तथा इन्द्रियोंके अधीन फंसे रहनेवालेको भी शरीरसे काम करनेकी अनुमति देते हो ॥ ६२ ॥

षष्टिश्च गावस्त्रिशताश्च धेनव एकं वत्सं सुवते तं दुहन्ति ।
नानागोष्ठा विहिता एकदोहनास्तावश्विनौ दुहतो घर्ममुक्थ्यम् ॥ ६३ ॥

दिन और रातरूपी तीन सौ साठ गायें संवत्सररूपी एक बछडेको उत्पन्न करती हैं, परम-तत्त्वको जाननेकी अभिलाषा रखनेवाले विद्वान् इस बछडेकी सहायतासे अनेक फल देनेवाले तत्त्वशोधनरूपी दूधको दुहते हैं। इन गायोंके रहनेके स्थान–गोष्ठ यद्यपि भिन्न भिन्न हैं, तथापि इनको दुहनेका साधनरूप बछडा एक ही है। उससे हे अश्विनौ! तुम दोनों उक्थ्य घर्म अर्थात् प्रशंसनीय सारतत्त्व दुहते हो ॥ ६३ ॥

एकां नाभिं सप्तशता अराः श्रिताः प्रधिष्वन्या विंशतिरर्पिता अराः।
अनेमि चक्रं परिवर्ततेऽजरं मायाश्विनौ समनक्ति चर्षणी ॥ ६४ ॥

कालरूपी चक्रमें संवत्सर बीचकी नाभि अर्थात् केन्द्र स्थान है। इस नाभिमें दिन रातरूपी सातसौ बीस डण्डे लगे हुए हैं। बारह महिने इन डण्डोंके प्रधि अर्थात् बाहरकी लकडियां हैं। पर यह चक्र नेमि अर्थात् गतिरहित होते हुए भी अपने स्थान पर ही घूमता रहता है। तथापि कभी न टूटनेवाला तथा हमेशा घूमते रहनेवाला मायारूपी यह अक्षय कालचक्र हे अश्विनी देवो! तुम्हारे द्वारा चलाया जाकर इस लोक और परलोक दोनों लोकोंको व्यापता है अर्थात् इस कालचक्रसे अप्रभावित कोई भी लोक नहीं है ॥ ६४ ॥

एकं चक्रं वर्तते द्वादशारं प्रधिषण्णाभिमेकाक्षममृतस्य धारणम् ।
यस्मिन्देवा अधि विश्वे विषक्तास्तावश्विनौ मुञ्चत मा विषीदतम् ॥ ६५ ॥

(मेषादि राशिरूपी) बारह आरे (ऋतुरूपी) छः धुरे (वर्षरूपी) एक अक्षवाला तथा अमृतको धारण करनेवाला एक चक्र है, देवगण भी जिसमें स्थित हैं, तुम दुःखी मुझे उस कालचक्रसे मुक्त करो ॥ ६५ ॥

अश्विनाविन्द्रममृतं वृत्तभूयौ तिरोधत्तामश्विनौ दासपत्नी ।
भित्त्वा गिरिमश्विनौ गामुदाचरन्तौ तद्वृष्टमह्ना प्रथिना वलस्य ॥ ६६ ॥

हे अश्विनौ! तुम सदाचारी हो, तुम अपने यशसे इन्द्र, अमृत और जलोंको भी तिरस्कृत करते हो, पर्वतको फोडकर तुम सानन्द पृथ्वी पर घूमते हो तथा आनन्द और बलकी वर्षा करते हो ॥ ६६ ॥

युवां दिशो जनयथो दशाग्रे समानं मूर्ध्नि रथया वियन्ति ।
तासां यातमृषयोऽनुप्रयान्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६७ ॥

हे अश्विनौ! सृष्टिके आरंभमें सर्वप्रथम दसों दिशायें तुम्हींने निर्माण कीं। इसके बाद रथसे जानेवाले तथा सबके लिए समान रूपसे दीखनेवाले सूर्य व उसके घूमनेके लिए अनेक मार्गों अर्थात् आकाशोंको बनाया। सूर्यकी गतिको ध्यानमें रखकर ऋषिगण यथोचित काम करते हैं, उसी प्रकार देव तथा मनुष्य अपने अपने अधिकारके अनुसार पृथ्वी अर्थात् सुखोंका उपभोग करते हैं ॥ ६७ ॥

युवां वर्णान्विकुरुथो विश्वरूपांस्तेऽधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
ते भानवोऽप्यनुसृताश्चरन्ति देवा मनुष्याः क्षितिमाचरन्ति ॥ ६८ ॥

तुमने नाना प्रकारके रूप व वर्णवाले पदार्थ उपजाये हैं और उन्हींमें सारे भुवन रहते हैं! वे तेजस्वी पदार्थ आपके पीछे पीछे चलते हैं और देवता, मनुष्य अपने अधिकारानुसार इस पृथ्वी अर्थात् सुखको भोगते हैं ॥ ६८ ॥

तौ नासत्यावश्विनावामहे वां स्रजं च यां बिभृथः पुष्करस्य ।
तौ नासत्यावमृतावृतावृधावृते देवास्तत्प्रपदेन सूते ॥ ६९ ॥

हे नासत्यके नामसे प्रसिद्ध दोनों अश्विनीकुमार! मैं तुम्हारी तथा तुम जो आकाशरूप ब्रह्मसे उत्पन्न ब्रह्माण्डकी माला धारण करते हो, उसकी भी पूजा करता हूं। आप अमर हैं और अमृत तथा सत्यकी वृद्धि करनेवाले हैं, आपकी कृपाके विना देव भी विषयोंका उपभोग नहीं कर सकते ॥ ६९ ॥

मुखेन गर्भं लभतां युवानौ गतासुरेतत्प्रपदेन सूते ।
सद्यो जातो मातरमत्ति गर्भस्तावश्विनौ मुंचथो जीवसे गाः ॥ ७० ॥

सर्व प्रथम युवा स्त्री और पुरुष मुखके द्वारा अन्नके रूपमें गर्भको प्राप्त करते हैं (अन्न खानेसे वह अन्न ही स्त्रीमें रजके रूपमें और पुरुषमें वीर्यके रूपमें परिणित हो जाता है, और यह रज और वीर्य ही स्त्रीमें गर्भका कारण होता है। अतः युवा स्त्री पुरुष मानों अन्नके रूपमें गर्भको ही अपने अन्दर स्थापित करते हैं) गर्भाधानके बाद यह अचेतन देह या शरीर माताकी योनिसे प्रसूत होता है (शरीरमें चैतन्यता आत्माके कारण है, पर शरीर स्वयंमें अचेतन है) वह गर्भ प्रसूत होते ही माताको खाने लगता है अर्थात् दूध पीने लगता है (मातृत्व दूधका प्रतीक है, विना माता बने स्त्रीके स्तनोंमें दूध नहीं उतरता, अतः यहां माताको खानेका अर्थ दूध पीना ही है), हे अश्विनौ! गर्भस्थापन, गर्भप्रसूति, गर्भका दुग्धपान आदि सब कार्य आपकी कृपासे ही होता है, अतः जीवनके लिए आप मेरी चक्षु इन्द्रियको उत्तम कीजिए ॥ ७० ॥

एवं तेनाभिष्टुतावश्विनावाजग्मतुः। आहतुश्चैनम्। प्रीतौ स्वः।
एष तेऽपूपः। अशानैममिति ॥ ७१ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच।
नानृतमूचतुर्भवन्तौ। न त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्सहे अनि-

उपमन्युके इस प्रकार स्तवन करने पर दोनों अश्विनीकुमार (उस स्थानमें) आ गए। और इससे बोले— कि "हम तुम्हारे स्तवन सुनकर प्रसन्न हैं यह पुआ लो और खाओ" ॥७१॥ अश्विनीकुमारों द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उपमन्यु बोला, "तुम कभी मिथ्या नहीं

वेद्य गुरव इति ॥७२॥ ततस्तमश्विनावूचतुः। आवाभ्यां पुरस्ता-
द्भवत उपाध्यायेनैवमेवाभिष्टुताभ्यामपूपः प्रीताभ्यां दत्तः।
उपयुक्तश्च स तेनाविवेद्य गुरवे। त्वमपि तथैव कुरुष्व यथा
कृतमुपाध्यायेनेति ॥ ७३ ॥ स एवमुक्तः पुनरेव प्रत्युवाचैतौ।
प्रत्यनुनये भवन्तावश्विनौ। नोत्सहेऽहमनिवेद्योपाध्यायायो-
पयोक्तुमिति ॥ ७४ ॥

बोलते, पर मैं गुरुको विना समर्पित किये यह पुआ नहीं खा सकता " ॥ ७२ ॥ तब अश्विनीकुमारोंने उससे कहा, " पहिले तुम्हारे उपाध्यायने हमारा स्तवन किया था। हमारे प्रसन्न होकर ऐसा पुआ देनेपर उन्होंने गुरुको विना समर्पित किये ही खा लिया था। अतः तुम्हारे उपाध्यायने जैसा किया था, तुम भी वैसा ही करो " ॥ ७३ ॥ यह सुनकर उपमन्युने उत्तर दिया– " हे अश्विनीकुमारो! फिर मैं तुमसे विनय करके कहता हूं, कि मैं गुरुको विना समर्पित किये यह पुआ खा नहीं सकूंगा " ॥ ७४ ॥

ततस्तमश्विनावाहतुः। प्रीतौ स्वस्तवानया गुरुवृत्त्या। उपाध्यायस्य
ते कार्ष्णायसा दन्ताः। भवतो हिरण्मया भविष्यन्ति। चक्षु-
ष्मांश्च भविष्यसि। श्रेयश्चावाप्स्यसीति ॥ ७५ ॥ स एवमु-
क्तोऽश्विभ्यां लब्धचक्षुरुपाध्यायसकाशमागम्योपाध्यायम-
भिवाद्याचचक्षे। स चास्य प्रीतिमानभूत् ॥७६॥ आह चैनम्।
यथाश्विनावाहतुस्तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसीति। सर्वे च ते
वेदाः प्रतिभास्यन्तीति ॥७७॥ एषा तस्यापि परीक्षोप-
मन्योः ॥ ७८ ॥

दोनों अश्विनीकुमार उससे बोले, " तुम्हारी ऐसी अटल गुरुभक्ति देखकर हम बडे प्रसन्न हुए। तुम्हारे गुरुके काले लोहेके दांत हैं, पर तुम्हारे सोनेके दांत होंगे (अर्थात् तुझे तेरे गुरुकी अपेक्षा भी अधिक ज्ञान प्राप्त होगा। तेरे गुरु कर्ममार्गी हैं अतः उन्हें कर्मसे मिलने-वाले फलोंको भोगना ही पडेगा, पर तू ज्ञानमार्गी होनेके कारण सकामकर्मोंसे परे है, अतः कर्मोंके फल तेरा स्पर्श भी नहीं कर सकेंगे) तुम आंखोंवाले हो जाओगे और तुम मंगल प्राप्त करोगे " ॥ ७५ ॥ अश्विनीकुमारोंके इस प्रकार कहनेसे आंखोंको पाकर उपमन्युने उपाध्यायके सम्मुख आकर नमस्कार किया और प्रारंभसे अन्ततक सम्पूर्ण वृत्तांत कह सुनाया। उपाध्याय वह सुनकर प्रसन्न हुए ॥ ७६ ॥ और इससे बोले– " अश्विनीकुमारोंने जैसा कहा है, उसी प्रकार तुमको मंगल प्राप्त होगा, सम्पूर्ण वेद तुम पर प्रकाशित होंगे " ॥ ७७ ॥ गुरुभक्त उपमन्युकी यह परीक्षा हुई ॥ ७८ ॥

अथापरः शिष्यस्तस्यैवायोदस्य धौम्यस्य वेदो नाम ॥ ७९ ॥ तमुपाध्यायः संदिदेश। वत्स वेद इहास्यताम्। भवता मद्-गृहे कंचित्कालं शुश्रूषमाणेन भवितव्यम्। श्रेयस्ते भविष्यतीति ॥ ८० ॥ स तथेत्युक्त्वा गुरुकुले दीर्घकालं गुरुशुश्रूषणपरोऽवसत्। गौरिव नित्यं गुरुषु धूर्षु नियुज्यमानः शीतोष्णक्षुत्तृष्णादुःखसहः सर्वत्राप्रतिकूलः ॥ ८१ ॥ तस्य महता कालेन गुरुः परितोषं जगाम। तत्परितोषाच्च श्रेयः सर्वज्ञतां चावाप। एषा तस्यापि परीक्षा वेदस्य ॥ ८२ ॥

उसी अयोद धौम्यके तीसरे शिष्यका नाम वेद था ॥ ७९ ॥ उपाध्यायने उसको आज्ञा दी, " वत्स वेद ! तुम यहीं रहो। तुम कुछ दिन मेरे घरमें रहकर गुरु-सेवा करो। तुम्हारा मंगल होगा " ॥ ८० ॥ वेद तथास्तु कहकर बहुकालतक गुरुकुलमें रहकर गुरु-सेवा करने लगा। बैलके समान नित्य नाना तरहके कठिन कठिन कार्यरूपी जुएमें जुत कर भी अर्थात् भार सहकर भी, शीत, ग्रीष्म, क्षुधा, प्यास आदि सब दुःख सह कर और किसी बातमें प्रतिकूल न होकर उसने बहुत कालतक गुरुसेवा की ॥ ८१ ॥ बहुत कालके पश्चात् उपाध्याय प्रसन्न हुए, उसके प्रसन्न होनेपर वेदने कल्याण और सर्वज्ञता प्राप्त की। इस प्रकार उस वेदकी भी परीक्षा हुई ॥ ८२ ॥

स उपाध्यायेनानुज्ञातः समावृत्तस्तस्माद्गुरुकुलवासाद्गृहाश्रमं प्रत्यपद्यत। तस्यापि स्वगृहे वसतस्त्रयः शिष्या बभूवुः ॥ ८३ ॥ स शिष्यान्न किंचिदुवाच। कर्म वा क्रियतां गुरुशुश्रूषा वेति। दुःखाभिज्ञो हि गुरुकुलवासस्य शिष्यान्परिक्लेशेन योजयितुं नेयेष ॥ ८४ ॥ अथ कस्यचित्कालस्य वेदं ब्राह्मणं जनमेजयः पौष्यश्च क्षत्रियावुपेत्योपाध्यायं

इस प्रकार उपाध्यायसे आज्ञा पाकर समावर्तनके बाद उस गुरुकुलसे लौटकर वेदने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। उस वेदके गृहस्थाश्रममें रहते हुए उसके भी तीन शिष्य थे ॥ ८३ ॥ वह शिष्योंसे कुछ कहता नहीं था कि " कर्म करो वा गुरुसेवा करो "। क्यों कि वह गुरुकुलमें बसनेका दुःख जानता था, अतः वह अपने शिष्योंको कष्ट देना नहीं चाहता था ॥ ८४ ॥ एक समय जनमेजय और पौष्य इन दो क्षत्रियोंने आकर ब्राह्मण

वरयांचक्रतुः ॥८५॥ स कदाचिद्याज्यकार्येणाभिप्रस्थित उत्तङ्कं नाम शिष्यं नियोजयामास। भो उत्तङ्क यत्किंचिदस्मद्गृहे परिहीयते तदिच्छाम्यहमपरिहीणं भवता क्रियमाणमिति ॥ ८६ ॥

वेदका उपाध्यायके पदके लिए वरण किया ॥ ८५ ॥ एक दिन वेदने याजन कार्यके लिए जानेके समय उत्तङ्क नामक शिष्यको आज्ञा दी, "हे उत्तङ्क ! मैं चाहता हूं, कि मेरी अनुपस्थितिमें गृहमें जो अभाव हो, तुम उनको पूरा करो ॥ ८६ ॥

स एवं प्रतिसमादिश्योत्तङ्कं वेदः प्रवासं जगाम ॥ ८७ ॥ अथोत्तङ्को गुरुशुश्रूषुर्गुरुनियोगमनुतिष्ठमानस्तत्र गुरुकुले वसति स्म ॥ ८८ ॥ स वसंस्तत्रोपाध्यायस्त्रीभिः सहिताभिराहूयोक्तः। उपाध्यायिनी ते ऋतुमती। उपाध्यायश्च प्रोषितः। अस्या यथायमृतुर्वन्ध्यो न भवति तथा क्रियताम्। एतद्विषीदतीति ॥ ८९ ॥ स एवमुक्तस्ताः स्त्रियः प्रत्युवाच। न मया स्त्रीणां वचनादिदमकार्यं कार्यम्। न ह्यहमुपाध्यायेन संदिष्टः। अकार्यमपि त्वया कार्यमिति ॥ ९० ॥

उत्तङ्कको यह आज्ञा देकर वेद प्रवास पर चले गये ॥ ८७ ॥ गुरुसेवामें प्रवीण उत्तङ्क गुरुकी आज्ञाका पालन करते हुए गुरुकुलमें रहने लगा ॥८८॥ उसके वहां रहते हुए एक दिन उपाध्यायके घरकी स्त्रियां एकत्र होकर उत्तङ्कको बुलाकर बोलीं– "उत्तङ्क ! तुम्हारे उपाध्यायकी स्त्री ऋतुमती हुई है। तुम्हारे उपाध्याय भी परदेश चले गये हैं। अतः जिससे उनकी ऋतु खाली न जाय, वैसा कार्य तुम करो। क्योंकि वह बडी उदास हुई हैं" ॥ ८९ ॥ उत्तङ्क यह सुनकर उन स्त्रियोंसे बोला, मैं स्त्रियोंकी बात सुनकर ऐसा कुकर्म नहीं कर सकूंगा "तुम (मेरी अनुपस्थितिमें) न करने योग्य कार्यको भी करना" ऐसी आज्ञा उपाध्याय मुझे नहीं दे गए हैं ॥ ९० ॥

तस्य पुनरुपाध्यायः कालान्तरेण गृहानुपजगाम तस्मात्प्रवासात्। स तद्वृत्तं तस्याशेषमुपलभ्य प्रीतिमानभूत् ॥९१॥ उवाच चैनम्। वत्सोत्तङ्क किं ते प्रियं करवाणीति। धर्मतो हि शुश्रूषितोऽस्मि भवता। तेन प्रीतिः परस्परेण नौ संवृद्धा।

कुछ समयके बाद उसके उपाध्याय परदेशसे घर लौट आये। यह सब वृत्तान्त जान कर उत्तंक पर बहुत प्रसन्न हुए ॥ ९१ ॥ और इससे बोले, "बेटा उत्तंक ! तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं ? तुमने धर्मानुसार मेरी सेवा की है। अतः परस्पर हम दोनोंमें प्रीति बढी है

तदनुजाने भवन्तम्। सर्वामेव सिद्धिं प्राप्स्यसि। गम्यतामिति ॥ ९२ ॥ स एवमुक्तः प्रत्युवाच। किं ते प्रियं करवाणीति। एवं ह्याहुः ॥ ९३ ॥

है। अब तुम्हें मैं अनुमति देता हूं। तुम्हारी संपूर्ण अभिलाषा पूर्ण होगी। तुम घर लौट जाओ " ॥ ९२ ॥ उपाध्यायके ऐसा कहने पर उत्तंक बोला, "मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूं ? कहा है " ॥ ९३ ॥

यश्चाधर्मेण विब्रूयाद्यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ९४ ॥

जो अधर्मसे बोलता है और जो अधर्मपूर्वक पूछता है उन दोनोंमेंसे एक मर जाता है और द्वेषभावको प्राप्त होता है ॥ ९४ ॥

सोऽहमनुज्ञातो भवता इच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहर्तुमिति ॥९५॥ तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच। वत्सोत्तङ्क उष्यतां तावदिति ॥ ९६ ॥ स कदाचित्तमुपाध्यायमाहोत्तंकः। आज्ञापयतु भवान्। किं ते प्रियमुपहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९७ ॥ तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। वत्सोत्तंक बहुशो मां चोदयसि गुर्वर्थमुपहरेयमिति। तद्गच्छ। एनां प्रविश्योपाध्यायिनीं पृच्छ किमुपहरामीति। एषा यद्ब्रवीति तदुपहरस्वेति ॥ ९८ ॥

अतः आपकी आज्ञा पाकर मैं आपके इच्छित पदार्थको लानेकी इच्छा करता हूं ॥ ९५ ॥ उसके इस प्रकार कहने पर उपाध्याय बोले, " वत्स उत्तङ्क ! तब तुम और कुछ दिन मेरे घर रहो " ॥ ९६ ॥ कुछ दिनोंके पश्चात् उत्तङ्क उपाध्यायसे बोला— " आप आज्ञा कीजिये। मैं आपकी गुरुदक्षिणाके लिए कौनसी प्रिय चीज लाऊं " ॥ ९७ ॥ उपाध्याय उत्तङ्कसे बोले, " वत्स उत्तङ्क ! तुम बार बार मुझे कह रहे हो गुरुदक्षिणा दूंगा। सो तुम जाओ। गृहके भीतर जाकर उपाध्यायनीसे पूछो, कि गुरुदक्षिणाके निमित्त क्या लाऊं ? वह जो कहें वही ले आओ " ॥ ९८ ॥

स एवमुक्त उपाध्यायेनोपाध्यायिनीमपृच्छत्। भवत्युपाध्यायेनास्म्यनुज्ञातो गृहं गन्तुम्। तदिच्छामीष्टं ते गुर्वर्थमुपहृत्यानृणो गन्तुम्। तदाज्ञापयतु भवती। किमुपहरामि गुर्वर्थमिति ॥ ९९ ॥ सैवमुक्तोपाध्यायिन्युत्तङ्कं प्रत्युवाच।

उपाध्यायके ऐसा कहने पर उत्तंकने उपाध्यायनीसे पूछा— " भवति ! उपाध्यायने मुझे घर जानेकी आज्ञा दी है। पर मैं आपकी इच्छित गुरुदक्षिणा लाकर गुरुऋणसे मुक्त होकर घर जाना चाहता हूं। अतः आप आज्ञा कीजिये, कि गुरुदक्षिणाके निमित्त क्या

गच्छ पौष्यं राजानम्। भिक्षस्व तस्य क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले। ते आनयस्व। इतश्चतुर्थेऽहनि पुण्यकं भविता। ताभ्यामाबद्धाभ्यां ब्राह्मणान्परिवेष्टुमिच्छामि। शोभमाना यथा ताभ्यां कुण्डलाभ्यां तस्मिन्नहनि संपादयस्व। श्रेयो हि ते स्यात्क्षणं कुर्वत इति॥ १००॥ स एवमुक्त उपाध्यायिन्या प्रातिष्ठतोत्तङ्कः। स पथि गच्छन्नपश्यदृषभमतिप्रमाणं तमधि रूढं च पुरुषमतिप्रमाणमेव॥ १०१॥ स पुरुष उत्तङ्कमभ्य-भाषत। उत्तङ्कैतत्पुरीषमस्य ऋषभस्य भक्षयस्वेति॥१०२॥

लाऊं ?" ॥ ९९ ॥ उत्तंकके ऐसी प्रार्थना करने पर उपाध्यायनी बोली– "हे उत्तंक ! राजा पौष्यके निकट जाओ। उसकी स्त्रीके द्वारा धारण किये हुए दोनों कुण्डल मांगो और उन्हें ले लाओ। आजसे चौथे दिन पुण्यक नामक व्रतका उत्सव होगा। मैं (उस दिन) उन दोनों कुण्डलोंसे सजधज कर ब्राह्मणोंको अन्न परोसना चाहती हूं। अतः तुम ऐसा करो कि मैं उस दिन उन कुण्डलोंसे सुशोभित हो सकूं। ऐसा करने अर्थात् मेरी बातको पूरा करनेवाले तुम्हारा मंगल होगा ॥ १०० ॥ उपाध्यायनीके ऐसा कहने पर उत्तङ्क चल दिया। चलते हुए रास्तेमें उसने एक बृहदाकारवाले बैलको और उस पर चढे हुए एक बृहदाकारवाले पुरुषको देखा ॥ १०१ ॥ उस पुरुषने उत्तङ्कसे कहा– "ए उत्तङ्क ! इस बैलका यह गोबर खाओ ॥ १०२ ॥

स एवमुक्तो नैच्छत् ॥१०३॥ तमाह पुरुषो भूयः। भक्षयस्वो-त्तङ्क। मा विचारय। उपाध्यायेनापि ते भक्षितं पूर्व-मिति॥ १०४॥ स एवमुक्तो बाढमित्युक्त्वा तदा तदृषभस्य पुरीषं मूत्रं च भक्षयित्वोत्तङ्कः प्रतस्थे यत्र स क्षत्रियः पौष्यः॥ १०५॥ तमुपेत्यापश्यदुत्तङ्क आसीनम्। स तमुपेत्याशीर्भिरभिनन्द्योवाच। अर्थी भवन्तमुपगतोऽ-स्मीति॥ १०६॥

यह सुनकर उत्तङ्कने गोबर खानेकी इच्छा नहीं की ॥ १०३ ॥ इस पर उस पुरुषने फिर उससे कहा– "उत्तङ्क ! खा जाओ। सोच विचार मत करो। पहिले तुम्हारे उपाध्यायने भी यह खाया था।" ॥ १०४ ॥ उसके इस प्रकार कहने पर, "अच्छा" कह कर उत्तङ्क बैलका गोबर और मूत्र खा पीकरके आगे चल दिया, जहां वह क्षत्रिय पौष्य था ॥१०५॥ उत्तङ्कने उसके निकट जाकर उसको बैठे हुए देखा। उत्तङ्क उसके पास जाकर आशीर्वादोंसे अभिनन्दन करके बोला– "मैं कुछ भिक्षाके निमित्त याचक होकर आपके पास आया हूं ॥ १०६ ॥

स एनमभिवाद्योवाच । भगवन्पौष्यः खल्वहम् । किं करवाणीति ॥ १०७ ॥ तमुवाचोत्तङ्कः । गुर्वर्थं कुण्डलाभ्यामर्थ्यागतोऽस्मीति ये ते क्षत्रियया पिनद्धे कुण्डले ते भवान्दातुमर्हतीति ॥ १०८ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच । प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रिया याच्यतामिति ॥ १०९ ॥ स तेनैवमुक्तः प्रविश्यान्तःपुरं क्षत्रियां नापश्यत् ॥ ११० ॥

पौष्यने इस उत्तङ्कको प्रणाम कर कहा, " हे भगवन् ! मैं पौष्य हूं । कहिये क्या करूं " ॥ १०७ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, " मैं गुरुदक्षिणा देनेके लिये दो कुण्डल मांगने आया हूं । आपकी धर्मपत्नीके द्वारा पहने हुए उन दोनों कुण्डलोंको आप देनेमें समर्थ हैं ॥१०८॥ पौष्य उससे बोला, " भीतर अन्तःपुरमें जाकर मेरी स्त्रीसे मांगिये " ॥१०९॥ इस प्रकार पौष्यके द्वारा कहे जाने पर वह भीतर गया पर वहां उसने पौष्यकी स्त्रीको नहीं देखा ॥ ११० ॥

स पौष्यं पुनरुवाच । न युक्तं भवता वयमनृतेनोपचरितुम् । न हि ते क्षत्रियान्तःपुरे संनिहिता । नैनां पश्यामीति ॥१११॥ स एवमुक्तः पौष्यस्तं प्रत्युवाच । संप्रति भवानुच्छिष्टः । स्मर तावत् । न हि सा क्षत्रिया उच्छिष्टेनाशुचिना वा शक्या द्रष्टुम् । पतिव्रतात्वादेषा नाशुचेर्दर्शनमुपैतीति ॥ ११२ ॥ अथैवमुक्त उत्तङ्कः स्मृत्वोवाच । अस्ति खलु मयोच्छिष्टेनोपस्पृष्टं शीघ्रं गच्छता चेति ॥ ११३ ॥ तं पौष्यः प्रत्युवाच । एतत्तदेवं हि । न गच्छतोपस्पृष्टं भवति न स्थितेनेति ॥११४॥

तब वह पौष्यके निकट लौट कर फिर बोला, " मुझे इस प्रकार झूठ मूठ ठगना आपके लिए उचित नहीं है । भीतर अन्तःपुरमें आपकी धर्मपत्नी नहीं हैं । मैं उन्हें नहीं देखता ॥१११॥ इस प्रकार उसके कहने पर पौष्य बोला– " भगवन् ! इस समय आप उच्छिष्ट हैं स्मरण कीजिए । उच्छिष्टसे अपवित्र मनुष्य द्वारा वह क्षत्रिया नहीं देखी जा सकती । वह पतिव्रता है, अतः वह अशुचि जनको दिखाई नहीं देती " ॥११२॥ पौष्यके ऐसा कहने पर उत्तङ्कने स्मरण कर कहा,– " हां मैंने जल्दीमें आते समय उच्छिष्टका स्पर्श किया था ॥ ११३ ॥ पौष्य उससे बोले " यही बात है । चलते हुए वा खडे होकर आचमन करना ठीक नहीं है । " ॥ ११४ ॥

अथोत्तङ्कस्तथेत्युक्त्वा प्राङ्मुख उपविश्य सुप्रक्षालितपा-
णिपादवदनोऽशब्दाभिर्हृदयंगमाभिरद्भिरुपस्पृश्य त्रिः पीत्वा
द्विः परिमृज्य खान्यद्भिरुपस्पृश्यान्तःपुरं प्रविश्य तां क्षत्रियाम-
पश्यत् ॥ ११५॥ सा च दृष्ट्वोत्तंकमभ्युत्थायाभिवाद्योवा-
च । स्वागतं ते भगवन् । आज्ञापय किं करवाणीति ॥११६॥
स तामुवाच । एते कुण्डले गुर्वर्थं मे भिक्षिते दातुमर्हसीति
॥ ११७ ॥ सा प्रीता तेन तस्य सद्भावेन पात्रमयमनतिक्रमणी-
यश्चेति मत्वा ते कुण्डले अवमुच्यास्मै प्रायच्छत् ॥ ११८ ॥

उत्तङ्कने "ठीक है" यह कह कर पूर्व ओर मुंह करके बैठकर हाथ, पांव, मुंह धोकर निःशब्द होकर तीन वार हृदयतक पहुंचने योग्य जल तीनबार पीकर दोबार मलकर और इन्द्रियोंको जलसे छू करके अन्तःपुरमें प्रवेश कर वहां क्षत्राणीको देखा ॥ ११५ ॥ वह (पौष्यकी स्त्री) उत्तङ्कको देख करके उठकर नमस्कार करके बोली, "भगवन्! आपका स्वागत हो। आज्ञा कीजिये, क्या करूं?" ॥ ११६ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, "गुरु-दक्षिणा देनेके लिए मैं आपके दोनों कुण्डल मांगता हूं, मुझे दान दें।" ॥ ११७ ॥ उसकी इस सद्भावनासे पौष्यपत्नी अति प्रसन्न हुई और "यह सुपात्र है, इसकी प्रार्थना अस्वीकार नहीं करनी चाहिये" ऐसा विचार कर कानोंसे कुण्डल खोलकर उसको दे दिये ॥ ११८ ॥

आह चैनम् । एते कुण्डले तक्षको नागराजः प्रार्थयति । अप्र-
मत्तो नेतुमर्हसीति ॥ ११९ ॥ स एवमुक्तस्तां क्षत्रियां प्रत्यु-
वाच । भवति सुनिर्वृता भव । न मां शक्तस्तक्षको नागराजो
धर्षयितुमिति ॥ १२० ॥ स एवमुक्त्वा तां क्षत्रियामामन्त्र्य
पौष्यसकाशमागच्छत् ॥ १२१ ॥ स तं दृष्ट्वोवाच । भो पौष्य
प्रीतोऽस्मीति ॥ १२२॥

और इससे कि कहा– "नागराज तक्षक इन कुण्डलोंको बहुत चाहते हैं। अतः बडी सावधानतासे ले जाइये।" ॥ ११९ ॥ यह सुनकर उत्तङ्क उस क्षत्रियासे बोला, "भगवति! निश्चिन्त रहिए। नागराज तक्षक मुझे हरानेमें समर्थ नहीं है ॥ १२० ॥ वह उत्तंक यह कर पौष्यकी स्त्रीसे विदा होकर पौष्यके पास आ पहुंचा ॥ १२१ ॥ वह उसे (पौष्यको) देखकर बोला कि, "हे पौष्य! मैं बहुत प्रसन्न हूँ" ॥ १२२ ॥

नागराज तक्षक
तत पूर्वी कुंडल अतीव
इच्छीते।

तं पौष्यः प्रत्युवाच। भगवंश्चिरस्य पात्रमासाद्यते। भवांश्च गुण-
वानतिथिः। तत्करिष्ये श्राद्धम्। क्षणः क्रियतामिति ॥१२३॥
तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच। कृतक्षण एवास्मि। शीघ्रमिच्छामि
यथोपपन्नमन्नमुपहृतं भवतेति ॥१२४॥ स तथेत्युक्त्वा
यथोपपन्नेनान्नेनैनं भोजयामास ॥१२५॥ अथोत्तङ्कः
शीतमन्नं सकेशं दृष्ट्वा अशुच्येतदिति मत्वा पौष्यमुवाच।
यस्मान्मे अशुच्यन्नं ददासि तस्मादन्धो भविष्यसीति ॥१२६॥

पौष्यने उससे कहा, "भगवन्! सत्पात्र बहुत कालके बाद मिलते हैं आप भी सर्व गुण-शील अतिथि उपस्थित हैं। अतः श्राद्ध करना चाहता हूं। आप क्षण भर ठहरिये।" ॥ १२३ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, "थोडी देरके लिए ठहर सकता हूँ। जो अन्न उपस्थित हो आप वही शीघ्र लाइये यही मैं चाहता हूँ" ॥ १२४॥ पौष्यने "ठीक है" यह कह कह जो अन्न उपस्थित था, वही लाकर उन्हें खिलाया ॥ १२५ ॥ उत्तङ्कने केशयुक्त और शीतल अन्न देखकर "यह अपवित्र है!" ऐसा समझ करके पौष्यसे कहा— "क्योंकि तुमने मुझको अपवित्र अन्न दिया है, अतः तुम अन्धे हो जाओगे ॥ १२६ ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच। यस्मात्त्वमप्यदुष्टमन्नं दूषयसि तस्माद-
नपत्यो भविष्यसीति ॥१२७॥ सोऽथ पौष्यस्तस्याशुचि-
भावमन्नस्यागमयामास ॥१२८॥ अथ तदन्नं मुक्तकेश्या
स्त्रियोपहृतं सकेशमशुचि मत्वोत्तङ्कं प्रसादयामास।
भगवन्नज्ञानादेतदन्नं सकेशमुपहृतं शीतं च। तत्क्षामये
भवन्तम्। न भवेयमन्ध इति ॥१२९॥ तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच।
न मृषा ब्रवीमि। भूत्वा त्वमन्धो नचिरादनन्धो भविष्य-
सीति। ममापि शापो न भवेद्भवता दत्त इति ॥१३०॥

पौष्य उससे बोला "क्योंकि तुम दोषसे रहित होने पर भी अन्नको दोष देते हो, अतः तुम्हारे सन्तान नहीं होगी ॥ १२७ ॥ इसके बाद पौष्यने उसकी परीक्षा कर उसकी अपवित्रता प्रत्यक्ष की ॥ १२८ ॥ तब अन्नको खोले हुए बालवाली स्त्रीके द्वारा लाया हुआ होनेके कारण केशयुक्त और अपवित्र जानकर राजा पौष्य उत्तङ्क ऋषिको प्रसन्न करने लगे "भगवन्! अज्ञानसे ही यह शीतल और केशयुक्त अन्न लाया गया है। अब आपसे क्षमा मांगता हूं। ताकि मुझे अन्धा होना न पडे" ॥ १२९ ॥ उत्तङ्क उससे बोला। "मेरी बात मिथ्या नहीं होती। आप अन्धे होकर फिर अति शीघ्र नेत्रवाले हो जाएंगे। आपने मुझको जो शाप दिया है, वह भी न फलने पावे।" ॥ १३० ॥

तं पौष्यः प्रत्युवाच। नाहं शक्तः शापं प्रत्यादातुम्। न हि मे मन्युरद्याप्युपशमं गच्छति। किं चैतद्भवता न ज्ञायते यथा ॥ १३१ ॥

पौष्यने उसे उत्तर दिया "शाप लौटानेका सामर्थ्य मुझमें नहीं है। मेरा क्रोध अभीतक शांत नहीं हुआ है। क्या आप नहीं जानते, कि ॥ १३१ ॥

नावनीतं हृदयं ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधारः।
विपरीतमेतदुभयं क्षत्रियस्य वाङ्नावनीती हृदयं तीक्ष्णधारम् ॥ १३२ ॥ इति।

ब्राह्मणका हृदय मक्खनके समान होता है, (थोडे ही में दयासे पिघलता है) और उनकी वाणीमें बहुत तेज धारवाला छुरा रखा हुआ होता है (अर्थात् उनकी वाणी बडी तीक्ष्ण होती है;) पर क्षत्रियोंमें यह दोनों ही बातें विपरीत होती हैं अर्थात् वाणी उनकी मक्खन–तुल्य और हृदय तेज धारवाले उस्तुरेके सदृश होता है ॥ १३२ ॥

तदेवं गते न शक्तोऽहं तीक्ष्णहृदयत्वात्तं शापमन्यथा कर्तुम्। गम्यतामिति ॥१३३॥ तमुत्तङ्कः प्रत्युवाच। भवताहमन्नस्याशुचिभावमागमय्य प्रत्यनुनीतः। प्राक्च तेऽभिहितम् यस्माददुष्टमन्नं दूषयसि तस्मादनपत्यो भविष्यसीति। दुष्टे चान्ने नैष मम शापो भविष्यतीति ॥ १३४ ॥ साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रातिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा ॥ १३५ ॥ सोऽपश्यत्पथि नग्नं श्रमणमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च अथोत्तङ्कस्ते कुण्डले भूमौ निक्षिप्योदकार्थं प्रचक्रमे ॥ १३६ ॥

अतः इस कारण तीक्ष्ण हृदयवाला होनेके कारण मैं उस शापको लौटा नहीं सकूंगा। आप जाइये।" ॥ १३३ ॥ उत्तङ्क बोला, "आपने अन्नकी अपवित्रता प्रत्यक्ष करके मुझसे प्रार्थना की है। पहिले आपने कहा था, कि चूंकि तुम "दोपरहित अन्न पर अपवित्र होनेका दोप लगाते हो, अतः तुम्हारे सन्तान नहीं होगी।" अब जब अन्नमें दोप प्रत्यक्ष हो गया है, तब फिर वह शाप मुझ पर कार्य नहीं करेगा" ॥ १३४ ॥ "अब मैं चलता हूं," यह कह कर उत्तङ्क दोनों कुण्डल लेकर चला गया ॥ १३५ ॥ उसने रास्तेमें क्षणमें दीखनेवाले और क्षणमें न दीखनेवाले एक नंगे संन्यासीको आते हुए देखा। इसके बाद उत्तङ्क धरतीपर दोनों कुण्डल रखकर पेशाब करने लगा ॥ १३६ ॥

3 टाळु प्रेरस्यासी अपवित्र

एतस्मिन्नन्तरे स श्रमणस्त्वरमाण उपसृत्य ते कुण्डले गृहीत्वा प्राद्रवत् । तमुत्तङ्कोऽभिसृत्य जग्राह । स तद्रूपं विहाय तक्षकरूपं कृत्वा सहसा धरण्यां विवृतं महाबिलं विवेश ॥ १३७॥ प्रविश्य च नागलोकं स्वभवनमगच्छत् । तमुत्तङ्कोऽन्वाविवेश तेनैव बिलेन । प्रविश्य च नागानस्तुवदेभिः श्लोकैः ॥ १३८ ॥

इसी बीच वह संन्यासी शीघ्रतासे आकर दोनों कुण्डल लेकर भाग गया। उत्तंकने दौडकर उसको पकड लिया। तब वह संन्यासीका रूप छोडकर तथा तक्षकका रूप धरकर अचानक पृथ्वीके एक चौडे बिलके भीतर जा घुसा ॥ १३७॥ और नागलोकमें प्रविष्ट होकर अपने घरमें जा पहुंचा। तब उत्तंक भी उसी बिलसे उसके पीछे प्रविष्ट हुआ। और घुसकर उसने इन श्लोकोंसे नागोंकी स्तुति की ॥ १३८ ॥

य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।
वर्षन्त इव जीमूताः सविद्युत्पवनेरिताः ॥ १३९ ॥

ऐरावत जिन सर्पोंके राजा हैं, जो रणभूमिमें सुशोभित होते हैं और जो बिजली तथा पवनसे प्रेरित होकर जल बरसानेवाले मेघोंके समान अस्त्र वर्षाने लगते हैं ॥ १३९ ॥

सुरूपाश्च विरूपाश्च तथा कल्माषकुण्डलाः ।
आदित्यवन्नाकपृष्ठे रेजुरैरावतोद्भवाः ॥ १४० ॥

ऐसे सुन्दर और विचित्र रूपवाले कुण्डलधारी ऐरावतवंशी नागगण देवलोकमें सूर्यकी भांति प्रकाशित होते हैं ॥ १४० ॥

बहूनि नागवर्त्मानि गङ्गायास्तीर उत्तरे ।
इच्छेत्कोऽर्कांशुसेनायां चर्तुमैरावतं विना ॥ १४१ ॥

गंगाके उत्तरी किनारे सर्पोंके अनेक मार्ग हैं। ऐरावतके विना कौन जन सूर्य किरणरूपी सेनामें घूमनेकी इच्छा करता है ? ॥ १४१ ॥

शतान्यशीतिरष्टौ च सहस्राणि च विंशतिः ।
सर्पाणां प्रग्रहा यान्ति धृतराष्ट्रो यदेजति ॥ १४२ ॥

जब धृतराष्ट्र सांप चलता है, तब उसके पीछे बीस हजार अस्सी सौ प्रग्रह नाग दल बांधकर चलते हैं ॥ १४२ ॥

ये चैनमुपसर्पन्ति ये च दूरंपरं गताः ।
अहमैरावतज्येष्ठभ्रातृभ्योऽकरवं नमः ॥ १४३ ॥

ऐरावतके उन सब ज्येष्ठ भाइयोंको भी, जो धृतराष्ट्रके आगे पीछे चलते हैं, मैं नमस्कार करता हूं ॥ १४३ ॥

यस्य वासः कुरुक्षेत्रे खाण्डवे चाभवत्सदा।
तं काद्रवेयमस्तौषं कुण्डलार्थाय तक्षकम् ॥ १४४ ॥

जिसका निवास पहिले कुरुक्षेत्र और खाण्डवप्रस्थमें होता था, उन कद्रूके पुत्र तक्षककी मैं कुण्डल पानेके निमित्त स्तुति करता हूं ॥ १४४ ॥

तक्षकश्चाश्वसेनश्च नित्यं सहचरावुभौ।
कुरुक्षेत्रे निवसतां नदीमिक्षुमतीमनु ॥ १४५ ॥

तक्षक और अश्वसेन यह दोनों नित्यके साथी होकर कुरुक्षेत्रमें इक्षुमती-नदीके तट पर रहते हैं ॥ १४५ ॥

जघन्यजस्तक्षकस्य श्रुतसेनेति यः श्रुतः।
अवसद्यो महद्द्युम्नि प्रार्थयन्नागमुख्यताम्।
करवाणि सदा चाहं नमस्तस्मै महात्मने ॥ १४६ ॥

तक्षकके छोटा भाई जो श्रुतसेनाके नामसे प्रसिद्ध हैं तथा महाद्युम्नतीर्थ पर नागोंमें श्रेष्ठत्व प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना करते हुए जो निवास करते थे, उन महात्माको भी मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥ १४६ ॥

एवं स्तुवन्नपि नागान्यदा ते कुण्डले नालभत्तथापश्यत्स्त्रियौ तन्त्रे अधिरोप्य पटं वयन्त्यौ ॥ १४७ ॥ तस्मिंश्च तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवः। चक्रं चापश्यद्षड्भिः कुमारैः परिवर्त्यमानम्। पुरुषं चापश्यद्दर्शनीयम् ॥ १४८ ॥ स तान्मर्वांस्तुष्टाव एभिर्मन्त्रवादश्लोकैः ॥ १४९ ॥

जब नागोंकी स्तुति करने पर भी कुण्डल न मिले, तब उन्होंने दो स्त्रियोंको खड्डी पर चढाकर वस्त्र बनाते हुए देखा ॥ १४७ ॥ उस खड्डी पर सफेद और काले रंगके धागे लगे हुए थे। और छः बालकोंके द्वारा घुमाये जाते हुए एक चक्रको देखा। एक सुन्दर पुरुष भी देखा ॥ १४८ ॥ उत्तंकने इन प्रशंसापरक श्लोकोंसे उनकी स्तुति की ॥ १४९ ॥

त्रीण्यर्पितान्यत्र शतानि मध्ये षष्टिश्च नित्यं चरति ध्रुवेऽस्मिन्।
चक्रे चतुर्विंशतिपर्वयोगे षडयत्कुमाराः परिवर्तयन्ति ॥ १५० ॥

चौबीस पर्वयुक्त तथा हमेशा चलनेवाले इस सनातन चक्रमें तीन सौ साठ अरे लगे हुए हैं और छः कुमार इसको घुमा रहे हैं ॥ १५० ॥

तन्त्रं चेदं विश्वरूपं युवत्यौ वयतस्तन्तून्सततं वर्तयन्त्यौ ।
कृष्णान्सितांश्चैव विवर्तयन्त्यौ भूतान्यजस्रं भुवनानि चैव ॥ १५१ ॥

दो युवतियां अनेकों रूपोंवाले इस चक्रको घुमाती हुई इसपर हमेशा काले और सफेद धागोंको बुनती रहती हैं और सम्पूर्ण भुवनोंको और भूतोंको हमेशा घुमाती रहती हैं ॥ १५१ ॥

वज्रस्य भर्ता भुवनस्य गोप्ता वृत्रस्य हन्ता नमुचेर्निहन्ता ।
कृष्णे वसानो वसने महात्मा सत्यानृते यो विविनक्ति लोके ॥ १५२ ॥

वज्रधारी, जगत्का रक्षक, नमुचिका वध करनेवाला और वृत्रासुरको मारनेवाला तथा दो काले कपडोंको पहने हुआ एक महात्मा है, जो लोगोंमें सत्य और असत्यको पृथक् पृथक् करता है ॥ १५२ ॥

यो वाजिनं गर्भमपां पुराणं वैश्वानरं वाहनमभ्युपेतः ।
नमः सदास्मै जगदीश्वराय लोकत्रयेशाय पुरंदराय ॥ १५३ ॥

जिन्होंने वैश्वानरके समान तेजोवान् समृद्ध जलसे उत्पन्न प्राचीन घोडेको प्राप्त किया है, उन त्रिलोकीनाथ विश्वेश्वर पुरन्दर इन्द्रको सदा नमस्कार हो ॥ १५३ ॥

ततः स एनं पुरुषः प्राह । प्रीतोऽस्मि तेऽहमनेन स्तोत्रेण । किं ते प्रियं करवाणीति ॥ १५४ ॥ स तमुवाच । नागा मे वशगाः स्युरिति ॥१५५॥ स एनं पुरुषः पुनरुवाच । एतमश्वमपाने धमस्वेति ॥ १५६ ॥ स तमश्वमपानेऽधमत् । अथाश्वाद्धम्यमानात्सर्वस्रोतोभ्यः सधूमा अर्चिषोऽग्नेर्निष्पेतुः ॥ १५७ ॥

(उत्तङ्कके ऐसे स्तवन करनेपर) वह पुरुष उससे बोला— तुम्हारी इस स्तुतिसे मैं प्रसन्न हुआ हूं । तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूं ॥ १५४ ॥ उत्तङ्क उससे बोला, " संपूर्ण सर्प मेरे वशमें आजावें " ॥ १५५ ॥ उस पुरुषने फिर उत्तङ्कसे कहा कि, " इस घोडेके मलद्वारमें फूंको " ॥ १५६ ॥ उत्तंकने (उस पुरुषकी आज्ञासे) घोडेके मलद्वारमें फूंक मारी; इससे फूंकनेपर घोडेके शरीरके सब छिद्रोंसे धुंआसहित अग्निकी ज्वालायें निकलने लगीं ॥ १५७ ॥

ताभिर्नागलोको धूपितः ॥ १५८ ॥ अथ ससंभ्रमस्तक्षकोऽग्नितेजोभयविषण्णस्ते कुण्डले गृहीत्वा सहसा स्वभवना-

उन अग्नि–ज्वालाओंसे नागलोक गर्म हो गया ॥ १५८ ॥ तब संभ्रम सहित तक्षकने अग्निके तेजके भयसे दुःखी होकर उन दोनों कुण्डलोंके साथ अपने गृहसे एकाएक निकल कर उत्तंकसे

निष्क्रम्योत्तङ्कमुवाच। एते कुण्डले प्रतिगृह्णातु भवानिति ॥ १५९ ॥ स ते प्रतिजग्राहोत्तङ्कः। कुण्डले प्रतिगृह्याचिन्तयत्। अद्य तत्पुण्यकमुपाध्यायिन्याः। दूरं चाहमभ्यागतः। कथं नु खलु संभावयेयमिति ॥ १६० ॥ तत एनं चिन्तयानमेव स पुरुष उवाच। उत्तङ्क एनमश्वमधिरोह। एष त्वां क्षणादेवोपाध्यायकुलं प्रापयिष्यति ॥ १६१ ॥

कहा, "आप इन दोनों कुण्डलोंको लें लें" ॥ १५९ ॥ उत्तंकने कुण्डलोंको ले लिया। कुण्डलोंको लेकर उत्तंक सोचने लगा, "आज ही तो उपाध्यायिनीका पुण्यक-व्रत होनेवाला है। मैं भी बडी दूर आ गया हूं। कैसे (उचित समय पर वहां पहुंच करके) कार्य पूरा कर सकूंगा" ॥ १६० ॥ तब ऐसे सोचमें पडे हुए उस उत्तंकसे वह पुरुष बोला— "उत्तंक! इस घोडे पर चढ जाओ। यह क्षणभरमें ही तुम्हें गुरुके घर पहुंचा देगा" ॥ १६१ ॥

स तथेत्युक्त्वा तमश्वमधिरुह्य प्रत्याजगामोपाध्यायकुलम्। उपाध्यायिनी च स्नाता केशानावपयन्त्युपविष्टोत्तङ्को नागच्छतीति शापायास्य मनो दधे ॥ १६२ ॥ अथोत्तङ्कः प्रविश्य उपाध्यायिनीमभ्यवादयत्। ते चास्यै कुंडले प्रायच्छत् ॥ १६३ ॥ सा चैनं प्रत्युवाच। उत्तङ्क देशे कालेऽभ्यागतः। स्वागतं ते वत्स। मनागसि मया न शप्तः। श्रेयस्तवोपस्थितम्। सिद्धिमाप्नुहीति ॥ १६४ ॥ अथोत्तङ्क उपाध्यायमभ्यवादयत्। तमुपाध्यायः प्रत्युवाच। वत्सोत्तङ्क स्वागतं ते। किं चिरं कृतमिति ॥ १६५ ॥

उत्तंक "तथास्तु" कहके उस घोडेपर चढकर उपाध्यायकुलमें लौट आया। इधर उपाध्यायिनी स्नान करके बैठ कर केश साफ करती हुई "उत्तंक अभीतक नहीं आया" यह सोचकर शाप देनेका विचार कर रही थी ॥ १६२ ॥ इतनेमें ही उत्तंकने प्रवेश करके उस उपाध्यायिनीको प्रणाम किया। और उसे दोनों कुण्डल दे दिये ॥ १६३ ॥ उपाध्यायिनी उत्तंकसे बोली, "हे उत्तंक! तुम ठीक समय और ठीक स्थानपर आ गए हो। हे वत्स! तुम्हारा स्वागत हो। अच्छा हुआ, कि मैंने निरपराधी तुमको शाप नहीं दिया। अब तुम्हारे मंगलका अवसर आ पहुंचा है। तुम सिद्धिलाभ करो" ॥ १६४ ॥ इसके बाद उत्तंकने उपाध्यायको प्रणाम किया। उपाध्याय उससे बोले, "बेटा उत्तंक! तुम्हारा स्वागत हो। तुमको आनेमें इतनी देर क्यों हुई?" ॥ १६५ ॥

तमुत्तङ्क उपाध्यायं प्रत्युवाच । भोस्तक्षकेण नागराजेन विघ्नः कृतोऽस्मिन्कर्मणि । तेनास्मि नागलोकं नीतः ॥१६६॥ तत्र च मया दृष्टे स्त्रियौ तन्त्रेऽधिरोप्य पटं वयन्त्यौ । तस्मिंश्च तन्त्रे कृष्णाः सिताश्च तन्तवः । किं तत् ॥ १६७ ॥ तत्र च मया चक्रं दृष्टं द्वादशारम् । षट्चैनं कुमाराः परिवर्तयन्ति । तदपि किम् ॥ १६८ ॥ पुरुषश्चापि मया दृष्टः । स पुनः कः ॥ १६९ ॥

उत्तंकने उपाध्यायको उत्तर दिया, " नागराज तक्षकने इस कार्यमें विघ्न डाल दिया था, अतः मैं नागलोक गया था ॥ १६६ ॥ वहां मैंने खड्डीपर चढाकर कपडा बुनते हुए दो स्त्रियोंको देखा । उस खड्डीमें सफेद और काले रंगके सूत थे । वह क्या थे ? ॥१६७॥ वहां मैंने बारह आरेवाला एक पहिया देखा, छै कुमार इस चक्रको घुमा रहे थे । वह भी क्या था ? ॥ १६८ ॥ एक पुरुषको भी मैंने देखा । वह कौन था ॥ १६९ ॥

अश्वश्चातिप्रमाणयुक्तः । स चापि कः ॥ १७० ॥ पथि गच्छता मया ऋषभो दृष्टः । तं च पुरुषोऽधिरूढः । तेनास्मि सोपचारमुक्तः । उत्तङ्कास्य ऋषभस्य पुरीषं भक्षय । उपाध्यायेनापि ते भक्षितमिति । ततस्तद्वचनान्मया तदृषभस्य पुरीषमुपयुक्तम् । तदिच्छामि भवतोपदिष्टं किं तदिति ॥ १७१ ॥ तेनैवमुक्त उपाध्यायः प्रत्युवाच । ये ते स्त्रियौ धाता विधाता च । ये च ते कृष्णाः सिताश्च तन्तवस्ते रात्र्यहनी ॥ १७२ ॥ यदपि तच्चक्रं द्वादशारं षट्कुमाराः परिवर्तयन्ति ते ऋतवः षट् संवत्सरश्चक्रम् । यः पुरुषः स पर्जन्यः । योऽश्वः सोऽग्निः ॥ १७३ ॥

वडे भारी एक घोडेको देखा, वह भी कौन था ? ॥ १७० ॥ पथमें जाते हुए मैंने एक बैलको देखा था । उसपर एक पुरुष चढा हुआ था । उसने विनयपूर्वक मुझसे कहा, " हे उत्तंक ! तुम इस बैलका गोवर खा लो । पहिले तुम्हारे उपाध्यायने भी खाया था " । मैंने उसका वचन सुनकर उस बैलका गोवर खा लिया था । वह सब क्या था, यह सब आपके मुंहसे सुनना चाहता हूं ॥ १७१ ॥ उत्तंकके यह सब पूछनेपर उपाध्याय बोले, " हे उत्तंक ! तुमने जिन दो स्त्रियोंको देखा, वे धाता और विधाता थीं । जिन सफेद और काले धागोंको देखा, वे सब दिन और रात थे ॥ १७२ ॥ जिस चक्रको देखा, वह वर्ष था; जिन छः कुमारोंको उस बारह आरेवाले चक्रको घुमाते देखा, वे छः ऋतु थे । जिस पुरुषको देखा वह मेघ था । जिस अश्वको देखा, वह अग्नि था ॥ १७३ ॥

य ऋषभस्त्वया पथि गच्छता दृष्टः स ऐरावतो नागराजः। यश्चैनमधिरूढः पुरुषः स इन्द्रः। यदपि ते पुरीषं भक्षितं तस्य ऋषभस्य तदमृतम् ॥ १७४॥ तेन खल्वसि न व्यापन्नस्तस्मि न्नागभवने। स मम सखा इन्द्रः ॥ १७५॥ तदनुग्रहात्कुण्डले गृहीत्वा पुनरभ्यागतोऽसि। तत्सौम्य गम्यताम्। अनुजाने भवन्तम्। श्रेयोऽवाप्स्यसीति ॥ १७६॥ स उपाध्यायेनानुज्ञात उत्तङ्कः क्रुद्धस्तक्षकस्य प्रतिचिकीर्षमाणो हास्तिनपुरं प्रतस्थे ॥ १७७॥

पथमें जाते हुए जिस बैलको तुमने देखा, वह नागराज ऐरावत था। उसपर जो पुरुष चढा हुआ था वह इन्द्र था और तुमने जो उस बैलका गोबर खाया वह अमृत था ॥ १७४॥ उसी अमृतको खानेके कारण तुम नागलोकमें जानेपर भी नष्ट नहीं हुए। वही इन्द्र मेरा मित्र है ॥ १७५॥ उसी इन्द्रकी कृपासे कुण्डल लेकर लौटकर आ सके हो। अत एव हे सुशील! अब तुम अपने घर जाओ। मैं तुमको अनुमति देता हूं। तुम श्रेयको प्राप्त करो ॥ १७६ ॥ वह उत्तंक उपाध्यायसे आज्ञा लेकर तक्षकपर नाराज होकर उससे बदला लेनेकी इच्छासे हस्तिनापुरको चला गया ॥ १७७ ॥

स हास्तिनपुरं प्राप्य नचिराद्द्विजसत्तमः।
समागच्छत राजानमुत्तङ्को जनमेजयम् ॥ १७८॥

विप्रोंमें श्रेष्ठ उत्तङ्क विना विलम्ब हस्तिनापुर जाकर महाराज जनमेजयके निकट उपस्थित हुए ॥ १७८ ॥

पुरा तक्षशिलातस्तं निवृत्तमपराजितम्।
सम्यग्विजयिनं दृष्ट्वा समन्तान्मन्त्रिभिर्वृतम् ॥ १७९॥
तस्मै जयाशिषः पूर्वं यथान्यायं प्रयुज्य सः।
उवाचैनं वचः काले शब्दसंपन्नया गिरा ॥ १८०॥

इससे पहले तक्षशिलाके प्रदेशको जीतकर लौटकर आए हुए, शत्रुओंपर अच्छी तरह जय प्राप्त करनेवाले होने पर भी स्वयं शत्रुओंसे अपराजित उस जनमेजयको मंत्रियोंके द्वारा चारों ओरसे घिरा हुआ देखकर उत्तंकने पहले उनको यथाविधि जयप्राप्त करनेके लिए शुभाशीर्वाद दिए, और फिर उत्तम शब्दोंसे युक्त वाणीसे समयके अनुसार वाक्य इस जनमेजयसे कहे ॥ १७९-१८० ॥

अन्यस्मिन्करणीये त्वं कार्ये पार्थिवसत्तम ।
बाल्यादिवान्यदेव त्वं कुरुषे नृपसत्तम ॥ १८१ ॥

"हे श्रेष्ठ राजन् ! इस करने योग्य कार्यमें अपने कर्तव्यका पालन न करके तुम बालकके समान दूसरे कार्योंमें लगे हुए हो ॥ १८१ ॥

एवमुक्तस्तु विप्रेण स राजा प्रत्युवाच ह ।
जनमेजयः प्रसन्नात्मा सम्यक्संपूज्य तं मुनिम् ॥ १८२ ॥

उत्तंकसे इस प्रकार कहे जानेपर प्रसन्न आत्मावाले महाराज जनमेजय विधिपूर्वक उसकी पूजा करके उस मुनिसे बोले ॥ १८२ ॥

आसां प्रजानां परिपालनेन स्वं क्षत्रधर्मं परिपालयामि ।
प्रब्रूहि वा किं क्रियतां द्विजेन्द्र शुश्रूषुरस्म्यद्य वचस्त्वदीयम् ॥ १८३ ॥

"मैं इन प्रजाओंका पालन करके मैं अपने क्षत्रियधर्मका पालन कर रहा हूं। हे द्विजेन्द्र मुझे बताओ मैं क्या करूं। मैं आज तुम्हारे वचनोंको सुनना चाहता हूँ ॥ १८३ ॥

स एवमुक्तस्तु नृपोत्तमेन द्विजोत्तमः पुण्यकृतां वरिष्ठः ।
उवाच राजानमदीनसत्त्वं स्वमेव कार्यं नृपतेश्च यत्तत् ॥ १८४ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजयके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर पुण्यशीलोंमें श्रेष्ठ द्विजोत्तम उत्तंकने उन अन्यून बलवाले महाराज जनमेजयको राजाके द्वारा जो कुछ किया जाना चाहिए, उन कार्योंको बताया ॥ १८४ ॥

तक्षकेण नरेन्द्रेन्द्र येन ते हिंसितः पिता ।
तस्मै प्रतिकुरुष्व त्वं पन्नगाय दुरात्मने ॥ १८५ ॥

हे श्रेष्ठ महीपाल ! जिस तक्षकके, द्वारा तुम्हारे पिताकी हिंसाकर दी गई थी, उस दुष्टात्मा सर्पको उचित प्रति फल दो ॥ १८५ ॥

कार्यकालं च मन्येऽहं विधिदृष्टस्य कर्मणः ।
तद्गच्छापचितिं राजन्पितुस्तस्य महात्मनः ॥ १८६ ॥

राजन् ! इस विधिदर्शित कार्यको करनेका काल आ पहुंचा है ऐसा मैं मानता हूं, अतः तुम्हारे उन महानुभाव जन्मदाता पिताका जो अनिष्ट हुआ है, उसका बदला लो ॥ १८६ ॥

तेन ह्यनपराधी स दष्टो दुष्टान्तरात्मना ।
पञ्चत्वमगमद्राजा वज्राहत इव द्रुमः ॥ १८७ ॥

उस दुष्ट अन्तरात्मावाले तक्षकके द्वारा तुम्हारे निरपराधी राजा काटे जाकर वज्रसे मारे गए वृक्षके समान मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥ १८७ ॥

बलदर्पसमुत्सिक्तस्तक्षकः पन्नगाधमः।
अकार्यं कृतवान्पापो योऽदशत्पितरं तव ॥ १८८ ॥

जिस सर्पोंमें अत्यंत नीच तक्षकने बल और अहंकारमें भरकर जो तुम्हारे पिताको काट लिया था, वह उसने बडा ही अनुचित और पापका कार्य किया ॥ १८८ ॥

राजर्षिवंशगोप्तारममरप्रतिमं नृपम्।
जघान काश्यपं चैव न्यवर्तयत पापकृत् ॥ १८९ ॥

और राजर्षिवंशके रक्षक, देवोंके समान अद्वितीय महाराज परीक्षितको मार डाला तथा उस पापीने (तुम्हारे पिताके प्राणोंको बचानेके लिए आते हुए) काश्यपको भी (बीच रास्तेमेंसे ही) लौटा दिया ॥ १८९ ॥

दग्धुमर्हसि तं पापं ज्वलिते हव्यवाहने।
सर्पसत्रे महाराज त्वयि तद्धि विधीयते ॥ १९० ॥

हे महाराज! सर्पयज्ञका अनुष्ठान कर प्रज्ज्वलित अग्निमें उस पापात्माको तुम जला सकते हो, अतः तुम शीघ्र उसका अनुष्ठान करो ॥ १९० ॥

एवं पितुश्चापचितिं गतवांस्त्वं भविष्यसि।
मम प्रियं च सुमहत्कृतं राजन्भविष्यति ॥ १९१ ॥

ऐसा करनेसे हे राजन्! अपने पिताका बदला तुम ले लोगे (और पिताके ऋणसे तुम उऋण हो जाओगे।) और मेरा भी अति प्रिय कार्य पूर्ण हो जाएगा ॥ १९१ ॥

कर्मणः पृथिवीपाल मम येन दुरात्मना।
विघ्नः कृतो महाराज गुर्वर्थं चरतोऽनघ ॥ १९२ ॥

हे निष्पाप महाराज पृथ्वीनाथ! मैं गुरुके लिये धन लाने गया था, तब उस दुरात्माने मेरे इस कर्ममें बडा विघ्न डाला था ॥ १९२ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु नृपतिस्तक्षकस्य चुकोप ह।
उत्तङ्कवाक्यहविषा दीप्तोऽग्निर्हविषा यथा ॥ १९३ ॥

तक्षककी यह बात सुन कर महाराज जनमेजय बहुत क्रोधित हुए, और जिस प्रकार घृतसे अग्नि जल उठती है, वैसे ही उत्तङ्कके वाक्यरूपी घृतसे उनकी क्रोधरूपी अग्नि जल उठी ॥ १९३ ॥

अपृच्छच्च तदा राजा मन्त्रिणः स्वान्सुदुःखितः ।
उत्तङ्कस्यैव सान्निध्ये पितुः स्वर्गगतिं प्रति ॥ १९४ ॥

तब अति दुःखित होकर राजाने उत्तङ्कके सामने ही अपने मंत्रियोंसे पिताके परलोक सिधारनेका वृत्तान्त पूछा ॥ १९४ ॥

तदैव हि स राजेन्द्रो दुःखशोकाप्लुतोऽभवत् ।
यदैव पितरं वृत्तमुत्तङ्कादशृणोत्तदा ॥ १९५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ समाप्तं पौष्यपर्व ॥ ६४८ ॥

जब राजाने उत्तङ्कसे पिताकी मृत्युका वृत्तान्त सुना तो नृपश्रेष्ठ जनमेजय दुःख और शोकमें विकल हो गए ॥ १९५ ॥

इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें तीसरा अध्याय और पौष्यपर्व समाप्त हुआ ॥ ६४८ ॥

: ४ :

लोमहर्षणपुत्र उग्रश्रवाः सूतः पौराणिको नैमिषारण्ये शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे ऋषीनभ्यागतानुपतस्थे ॥१॥ पौराणिकः पुराणे कृतश्रमः स तान्कृताञ्जलिरुवाच। किं भवन्तः श्रोतुमिच्छन्ति। किमहं ब्रवाणीति ॥ २॥ तमृषय ऊचुः। परमं लोमहर्षणे प्रक्ष्यामस्त्वां वक्ष्यसि च नः शुश्रूषतां कथायोगम्। तद् भगवांस्तु तावच्छौनकोऽग्निशरणमध्यास्ते ॥३॥

लोमहर्षणके पुत्र सूत पौराणिक उग्रश्रवा नैमिषारण्यमें कुलपति शौनकके बारह वर्षतक चलनेवाले यज्ञमें आये हुए ऋषियोंके समीप उपस्थित हुए ॥ १ ॥ पुराणोंका स्वाध्याय किए हुए वह पौराणिक दोनों हाथ जोडकर बोले, "आप लोग इस समय क्या सुनना चाहते हैं ? मैं इस समय क्या कहूँ ?" ॥ २ ॥ ऋषिलोग उससे बोले, "हे लोमहर्षणके पुत्र ! हम लोग विविध कथा सुननेके अभिलाषी होकर तुमसे जो जो पूछें, तुम वह सब वर्णन करना । परंतु भगवान् शौनक इस समय अग्निगृहमें बैठे हुए हैं ॥ ३ ॥

योऽसौ दिव्याः कथा वेद देवतासुरसंकथाः ।
मनुष्योरगगन्धर्वकथा वेद च सर्वशः ॥ ४ ॥

जो देवासुर संबंधी सम्पूर्ण कथायें जानते हैं और जो मनुष्य, सांप तथा गन्धर्वोंके संपूर्ण कथाओंको आप जानते हैं ॥ ४ ॥

स चाप्यस्मिन्मखे सौते विद्वान्कुलपतिर्द्विजः।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्शास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ५ ॥

हे सूत! विशेष करके जो इस यज्ञके कुलपति और विद्वान्, कार्यकुशल, व्रतशील, बुद्धिमान्, कर्मकाण्ड संबंधी शास्त्र और उपनिषद् सिखानेमें अद्वितीय गुरु हैं ॥ ५ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत्प्रतिपाल्यताम् ॥ ६ ॥

तथा सत्यवादी, शान्तिमें रत, तपस्वी और व्रतशील हैं; अतः वह हम सबहीके लिए माननीय हैं अतएव उनके लिये कुछ देर ठहर जाओ ॥ ६ ॥

तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम्।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥

अत्यंत पूजित श्रेष्ठासन पर बैठकर वह द्विजश्रेष्ठ जो कुछ भी प्रश्न करें, तुम उसीका उत्तर देना ॥ ७ ॥

सूत उवाच

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ८ ॥

सूत बोले, "वही होवे; महात्मा गुरुशौनकके बैठकर उनके द्वारा पूछे गए नाना विषयोंसे सम्बन्धित पुण्यकथायें मैं तुम्हें सुनाऊंगा।" ॥ ८ ॥

सोऽथ विप्रर्षभः कार्यं कृत्वा सर्वं यथाक्रमम्।
देवान्वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाजगाम ह ॥ ९ ॥
यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धास्त आसीना यतव्रताः।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ १० ॥

जिस यज्ञस्थानपर व्रतोंका आचरण करनेवाले ब्रह्मर्षि और सिद्ध मुनिगण सूतके पुत्र उग्रश्रवाको अग्रस्थान देकर बैठे हुए थे, उसी यज्ञस्थान पर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शौनक मंत्रों द्वारा देवोंको और जलद्वारा पितरोंको तृप्त करके तथा अन्य भी सब कार्योंको क्रमपूर्वक समाप्त करके आकर बैठ गए ॥ ९-१० ॥

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्ततः।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ६५९ ॥

बादमें ऋत्विक् और सभासदोंके बैठनेपर कुलपति शौनक स्वयं बैठ कर यह बोले ॥ ११ ॥

॥ इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५९ ॥

: ५ :

शौनक उवाच

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान्पुरा।
कच्चित्त्वमपि तत्सर्वमधीषे लोमहर्षणे ॥ १ ॥

शौनक बोले– "हे तात लोमहर्षणके पुत्र ! पहिले तुम्हारे पिताने सम्पूर्ण पुराण पढे थे, क्या तुमने भी उन सबोंको पढ लिया है ? ॥ १ ॥

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम्।
कथ्यन्ते ताः पुरास्माभिः श्रुताः पूर्वं पितुस्तव ॥ २ ॥

पुराणोंमें देवताओंके चरित्र और महानुभाव पुरुषोंके आदिवंशवृत्तान्त कथित हुए हैं; पहिले वे वृत्तान्त तुम्हारे पिताके द्वारा कहे जाते थे, हम लोग वह सब कथायें सुन चुके हैं ॥२॥

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥

इस समय उनमें सबसे प्रधान भृगुवंशका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं, तुम इस कथाको सुनाओ । हम लोग एकचित्त होकर तुम्हारी बात सुननेके लिए तैय्यार हैं ॥ ३ ॥

सूत उवाच

यदधीतं पुरा सम्यग्द्विजश्रेष्ठ महात्मभिः।
वैशंपायनविप्राद्यैस्तैश्चापि कथितं पुरा ॥ ४ ॥

सूत बोले– "हे द्विजश्रेष्ठ ! आप महात्माओंने जिन विषयोंको पुराणोंमें पढा है, और वैशम्पायन आदि द्विजवरोंने भी पहले कहा है ॥ ४ ॥

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक्चैव ततो मया।
तत्तावच्छृणु यो देवैः सेन्द्रैः साग्निमरुद्गणैः।
पूजितः प्रवरो वंशो भृगूणां भृगुनन्दन ॥ ५ ॥

और मेरे पिताने जिन विषयोंको पढा है, मैंने भी उन सब विषयोंको पितासे भलीभांति पढ लिया है; हे भृगुनन्दन ! इन्द्र, अग्नि और मरुतोंके साथ देवोंद्वारा पूजित उस श्रेष्ठ प्रवरवाले भृगुवंशको आप सुनिये ॥ ५ ॥

इमं वंशमहं ब्रह्मन्भार्गवं ते महामुने।
निगदामि कथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ॥ ६ ॥

हे महामुने ब्रह्मन् ! मैं पहिले उस भृगु सम्बन्धी वंशहीका पुराणके आधारपर कथाओंसे युक्त यथावत् वर्णन करता हूं ॥ ६ ॥

स चाप्यस्मिन्मखे सौते विद्वान्कुलपतिर्द्विजः ।
दक्षो धृतव्रतो धीमाञ्छास्त्रे चारण्यके गुरुः ॥ ५ ॥

हे सूत! विशेष करके जो इस यज्ञके कुलपति और विद्वान्, कार्यकुशल, व्रतशील, बुद्धिमान्, कर्मकाण्ड संबंधी शास्त्र और उपनिषद् सिखानेमें अद्वितीय गुरु हैं ॥ ५ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी नियतव्रतः ।
सर्वेषामेव नो मान्यः स तावत्प्रतिपाल्यताम् ॥ ६ ॥

तथा सत्यवादी, शान्तिमें रत, तपस्वी और व्रतशील हैं; अतः वह हम सबहीके लिए माननीय हैं अतएव उनके लिये कुछ देर ठहर जाओ ॥ ६ ॥

तस्मिन्नध्यासति गुरावासनं परमार्चितम् ।
ततो वक्ष्यसि यत्त्वां स प्रक्ष्यति द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥

अत्यंत पूजित श्रेष्ठासन पर बैठकर वह द्विजश्रेष्ठ जो कुछ भी प्रश्न करें, तुम उसीका उत्तर देना ॥ ७ ॥

सूत उवाच

एवमस्तु गुरौ तस्मिन्नुपविष्टे महात्मनि ।
तेन पृष्टः कथाः पुण्या वक्ष्यामि विविधाश्रयाः ॥ ८ ॥

सूत बोले, "वही होवे; महात्मा गुरुशौनकके बैठकर उनके द्वारा पूछे गए नाना विषयोंसे सम्बन्धित पुण्यकथायें मैं तुम्हें सुनाऊंगा।" ॥ ८ ॥

सोऽथ विप्रर्षभः कार्यं कृत्वा सर्वं यथाक्रमम् ।
देवान्वाग्भिः पितॄनद्भिस्तर्पयित्वाजगाम ह ॥ ९ ॥
यत्र ब्रह्मर्षयः सिद्धास्त आसीना यतव्रताः ।
यज्ञायतनमाश्रित्य सूतपुत्रपुरःसराः ॥ १० ॥

जिस यज्ञस्थानपर व्रतोंका आचरण करनेवाले ब्रह्मर्षि और सिद्ध मुनिगण सूतके पुत्र उग्रश्रवाको अग्रस्थान देकर बैठे हुए थे, उसी यज्ञस्थान पर ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ शौनक मंत्रों द्वारा देवोंको और जलद्वारा पितरोंको तृप्त करके तथा अन्य भी सब कार्योंको क्रमपूर्वक समाप्त करके आकर बैठ गए ॥ ९-१० ॥

ऋत्विक्ष्वथ सदस्येषु स वै गृहपतिस्ततः ।
उपविष्टेषूपविष्टः शौनकोऽथाब्रवीदिदम् ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ ६५९ ॥

बादमें ऋत्विक् और सभासदोंके बैठनेपर कुलपति शौनक स्वयं बैठ कर यह बोले ॥ ११ ॥

॥ इस प्रकार महाभारतके आदिपर्वमें चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६५९ ॥

: ५ :

शौनक उवाच

पुराणमखिलं तात पिता तेऽधीतवान्पुरा ।
कच्चित्त्वमपि तत्सर्वमधीषे लोमहर्षणे ॥ १ ॥

शौनक बोले– "हे तात लोमहर्षणके पुत्र ! पहिले तुम्हारे पिताने सम्पूर्ण पुराण पढे थे, क्या तुमने भी उन सबोंको पढ लिया है ? ॥ १ ॥

पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।
कथ्यन्ते ताः पुरास्माभिः श्रुताः पूर्वं पितुस्तव ॥ २ ॥

पुराणोंमें देवताओंके चरित्र और महानुभाव पुरुषोंके आदिवंशवृत्तान्त कथित हुए हैं; पहिले वे वृत्तान्त तुम्हारे पिताके द्वारा कहे जाते थे, हम लोग वह सब कथायें सुन चुके हैं ॥२॥

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।
कथयस्व कथामेतां कल्याः स्म श्रवणे तव ॥ ३ ॥

इस समय उनमें सबसे प्रधान भृगुवंशका वृत्तान्त सुनना चाहता हूं, तुम इस कथाको सुनाओ । हम लोग एकचित्त होकर तुम्हारी बात सुननेके लिए तैय्यार हैं ॥ ३ ॥

सूत उवाच

यदधीतं पुरा सम्यग्द्विजश्रेष्ठ महात्मभिः ।
वैशंपायनविप्राद्यैस्तैश्चापि कथितं पुरा ॥ ४ ॥

सूत बोले– "हे द्विजश्रेष्ठ ! आप महात्माओंने जिन विषयोंको पुराणोंमें पढा है, और वैशम्पायन आदि द्विजवरोंने भी पहले कहा है ॥ ४ ॥

यदधीतं च पित्रा मे सम्यक्चैव ततो मया ।
तत्तावच्छृणु यो देवैः सेन्द्रैः साग्निमरुद्गणैः ।
पूजितः प्रवरो वंशो भृगूणां भृगुनन्दन ॥ ५ ॥

और मेरे पिताने जिन विषयोंको पढा है, मैंने भी उन सब विषयोंको पितासे भलीभांत पढ लिया है; हे भृगुनन्दन ! इन्द्र, अग्नि और मरुतोंके साथ देवोंद्वारा पूजित उस श्रेष्ठ प्रवरवाले भृगुवंशको आप सुनिये ॥ ५ ॥

इमं वंशमहं ब्रह्मन्भार्गवं ते महामुने ।
निगदामि कथायुक्तं पुराणाश्रयसंयुतम् ॥ ६ ॥

हे महामुने ब्रह्मन् ! मैं पहिले उस भृगु सम्बन्धी वंशहीका पुराणके आधारपर कथाओंसे युक्त यथावत् वर्णन करता हूं ॥ ६ ॥

भृगोः सुदयितः पुत्रश्च्यवनो नाम भार्गवः।
च्यवनस्यापि दायादः प्रमतिर्नाम धार्मिकः।
प्रमतेरप्यभूत्पुत्रो घृताच्यां रुरुरित्युत ॥ ७ ॥

भृगुके बडे स्नेहपात्र पुत्र च्यवन नामके भृगुवंशमें उत्पन्न हुए। च्यवनके भी परम धार्मिक पुत्र प्रमति हुए; प्रमतिके भी घृताचीके गर्भसे औरस पुत्र रुरु उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

रुरोरपि सुतो जज्ञे शुनको वेदपारगः।
प्रमद्वरायां धर्मात्मा तव पूर्वपितामहात् ॥ ८ ॥

आपके पूर्व पितामह रुरुके प्रमद्वराके गर्भसे वेदज्ञ, धर्मज्ञ, शुनक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥

तपस्वी च यशस्वी च श्रुतवान्ब्रह्मवित्तमः।
धर्मिष्ठः सत्यवादी च नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ९ ॥

वे तपस्वी, यशस्वी, शास्त्रज्ञ, ब्रह्मज्ञ, परमधर्मशील, सत्यशील, जितेन्द्रिय थे ॥ ९ ॥

शौनक उवाच

सूतपुत्र यथा तस्य भार्गवस्य महात्मनः।
च्यवनत्वं परिख्यातं तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १० ॥

शौनक बोले– हे सूतपुत्र! जिस कारण महात्मा भृगुनन्दनकी च्यवनके नामसे प्रसिद्धि हुई, वह कारण पूछनेवाले मुझे आप बताइए ॥ १० ॥

सूत उवाच

भृगोः सुदयिता भार्या पुलोमेत्यभिविश्रुता।
तस्यां गर्भः समभवद्भृगोर्वीर्यसमुद्भवः ॥ ११ ॥

सूत बोले– महर्षि भृगुजीकी उत्तम, परमप्रिय सुप्रसिद्ध पुलोमा नामकी एक स्त्री थी। उसमें भृगुके वीर्यसे उत्पन्न होनेवाला गर्भ स्थिर हुआ ॥ ११ ॥

तस्मिन्गर्भे संभृतेऽथ पुलोमायां भृगूद्वह।
समये समशीलिन्यां धर्मपत्न्यां यशस्विनः ॥ १२ ॥
अभिषेकाय निष्क्रान्ते भृगौ धर्मभृतां वरे।
आश्रमं तस्य रक्षोऽथ पुलोमाभ्याजगाम ह ॥ १३ ॥

हे भृगुनंदन! उस यशस्वी भृगुसे उस समान शील स्वभावशाली धर्मपत्नी पुलोमामें यथा समय गर्भ स्थिर होने पर धर्मधारियोंमें श्रेष्ठ भृगुके एक दिन नहानेके लिए चले जानेपर पुलोम नामक राक्षस उनके आश्रमके पास आया ॥ १२–१३ ॥

तं प्रविश्याश्रमं दृष्ट्वा भृगोर्भार्यामनिन्दिताम् ।
हृच्छयेन समाविष्टो विचेताः समपद्यत ॥ १४ ॥

आश्रमके भीतर घुसकर वह राक्षस अनिन्दित भृगुपत्नीको देखकर हृदयमें कामके प्रविष्ट हो जानेके कारण कामपीडासे व्याकुल होकर अचेतनसा हो गया ॥ १४ ॥

अभ्यागतं तु तद्रक्षः पुलोमा चारुदर्शना ।
न्यमन्त्रयत वन्येन फलमूलादिना तदा ॥ १५ ॥

सुदर्शना पुलोमाने आश्रममें आए हुए उस राक्षसको वनके फलमूलोंसे सत्कार करनेके लिए आमंत्रण दिया ॥ १५ ॥

तां तु रक्षस्तदा ब्रह्मन्हृच्छयेनाभिपीडितम् ।
दृष्ट्वा हृष्टमभूत्तत्र जिहीर्षुस्तामनिन्दिताम् ॥ १६ ॥

हे ब्रह्मन् ! तब हृदयमें रहनेवाले कामसे पीडित तथा उसे हरनेकी इच्छा करनेवाला वह राक्षस उस अनिन्दित परम रूपमयी रमणीको वहां देखकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १६ ॥

अथाग्निशरणेऽपश्यज्ज्वलितं जातवेदसम् ।
तमपृच्छत्ततो रक्षः पावकं ज्वलितं तदा ॥ १७ ॥

अनन्तर उस राक्षसने अग्निगृहमें प्रज्ज्वलित जातवेदा अग्निदेवको देखा और तब उस जलते हुए अग्नि देवसे पूछा ॥ १७ ॥

शंस मे कस्य भार्येयमग्ने पृष्ट ऋतेन वै ।
सत्यस्त्वमसि सत्यं मे वद पावक पृच्छते ॥ १८ ॥

हे अग्ने ! तुम सत्यभाषी हो मैं तुमसे सत्य बात पूछता हूं, सत्य बोलो कि यह किसकी स्त्री है । हे अग्ने ! पूछनेवाले मुझसे सच बोलो ॥ १८ ॥

मया हीयं पूर्ववृता भार्यार्थे वरवर्णिनी ।
पश्चात्त्विमां पिता प्रादाद्भृगवेऽनृतकारिणे ॥ १९ ॥

मैंने पहिले इस सुन्दरी नारीको पत्नीरूपमें वरण किया था, पर बादमें इसके पिताने इसे असत्यभाषी भृगुको दे दिया ॥ १९ ॥

सेयं यदि वरारोहा भृगोर्भार्या रहोगता ।
तथा सत्यं समाख्याहि जिहीर्षाम्याश्रमादिमाम् ॥ २० ॥

तुम सच बोलो, यह एकान्तवासिनी, कमलके समाज सुन्दर रूपवाली भृगुपत्नी है कि नहीं ? मैं आश्रमसे इसे हर ले जाना चाहता हूं ॥ २० ॥

मन्युर्हि हृदयं मेऽद्य प्रदहन्निव तिष्ठति।
मत्पूर्वभार्यां यदिमां भृगुः प्राप सुमध्यमाम् ॥ २१ ॥

क्योंकि सुन्दर मध्यम भागसे युक्त शरीरवाली इस सुन्दरीको, जो पहले मेरी पत्नीके रूपमें थी, भृगुने प्राप्त कर लिया। इससे उत्पन्न हुआ तबका क्रोध मेरा हृदय जलाता हुआ आजतक बना हुआ है॥ २१ ॥

तद्रक्ष एवमामन्त्र्य ज्वलितं जातवेदसम्।
शङ्कमानो भृगोर्भार्यां पुनः पुनरपृच्छत ॥ २२ ॥

इस प्रकारसे पूछकर वह राक्षस भृगुकी पत्नी पर शंका करते हुए जलते हुए अग्निको सम्बोधित करके उससे बार बार पूछने लगा ॥ २२ ॥

त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि नित्यदा।
साक्षिवत्पुण्यपापेषु सत्यं ब्रूहि कवे वचः ॥ २३ ॥

हे अग्नि! तुम सदा सर्व भूतोंके हृदयमें विचरते हो और पाप और पुण्यके साक्षी हो, अतः हे दूरदर्शी विद्वान्! तुम सच्ची बात कहो ॥ २३ ॥

मत्पूर्वभार्यापहृता भृगुणानृतकारिणा।
सेयं यदि तथा मे त्वं सत्यमाख्यातुमर्हसि ॥ २४ ॥

मेरे द्वारा पहिलेकी वरण की हुई जिस मेरी ही पत्नीको अन्याय करनेवाले भृगुने हर लिया है, वह यही नारी है या नहीं? हे अग्ने! तुम यह बात मुझसे सच बोलो ॥ २४ ॥

श्रुत्वा त्वत्तो भृगोर्भार्यां हरिष्याम्यहमाश्रमात्।
जातवेदः पश्यतस्ते वद सत्यां गिरं मम ॥ २५ ॥

मैं तुमसे सच्ची बात सुनकर हे जातवेद अग्ने! तुम्हारे देखते देखते ही इस भृगुपत्नीको इस आश्रमसे हर ले जाना चाहता हूं अतः मुझे सच्ची बात बताओ ॥ २५ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सप्तार्चिर्दुःखितो भृशम्।
भीतोऽनृताच्च शापाच्च भृगोरित्यब्रवीच्छनैः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥ (६८५)

" उस राक्षसकी ऐसी बात सुनकर सात ज्वालाओंवाला अग्नि एक ओर मिथ्या बोलनेके डरसे और दूसरी ओर भृगुके शापके डरसे अति दुःखी होकर धीरेसे यह पुलोमा भृगुकी ही पत्नी है" इस प्रकार बोला ॥ २६ ॥

॥ श्री महाभारतमें आदिपर्वमें पांचवां अध्याय समाप्त ॥ (६८५)

२४६८

: ६ :

सूत उवाच

अग्नेरथ वचः श्रुत्वा तद्रक्षः प्रजहार ताम्।
ब्रह्मन्वराहरूपेण मनोमारुतरंहसा ॥ १ ॥

सूत बोले– हे ब्रह्मन्! इसके बाद वह राक्षस अग्निकी बात सुनकर शूकरका रूप धरके वायु और मनके समान तेजीसे उस पुलोमाको हर ले गया ॥ १ ॥

ततः स गर्भो निवसन्कुक्षौ भृगुकुलोद्वह।
रोषान्मातुश्च्युतः कुक्षेश्च्यवनस्तेन सोऽभवत् ॥ २ ॥

हे भृगुकुलके तिलक! ऐसे समयमें पुलोमाके कोखमें स्थित वह गर्भ क्रोधसे माताकी कोखसे च्युत हो गया अर्थात् गिर गया। इसी कारण उसका नाम च्यवन पडा ॥ २ ॥

तं दृष्ट्वा मातुरुदराच्च्युतमादित्यवर्चसम्।
तद्रक्षो भस्मसाद्भूतं पपात परिमुच्य ताम् ॥ ३ ॥

माताके गर्भसे गिरे हुए उस सूर्यके समान तेजस्वी बालकको देखते ही राक्षस पुलोमाको छोडकर भस्म बनकर पृथ्वी पर गिर पडा ॥ ३ ॥

सा तमादाय सुश्रोणी ससार भृगुनन्दनम्।
च्यवनं भार्गवं ब्रह्मन्पुलोमा दुःखमूर्च्छिता ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन्! दुःखसे मूर्च्छित हुई हुई वह उत्तम जघन प्रदेशवाली पुलोमा भृगुके पुत्र उस च्यवनको लेकर भृगुकी ओर चली ॥ ४ ॥

तां ददर्श स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।
रुदतीं बाष्पपूर्णाक्षीं भृगोर्भार्यामनिन्दिताम्।
सान्त्वयामास भगवान्वधूं ब्रह्मा पितामहः ॥ ५ ॥

तब सब लोकोंके पितामह ब्रह्माने उस अनिन्दित रूपवती भृगुपत्नीको रोती और नेत्रोंसे आंसू गिराती हुई देखा और पितामह भगवान् ब्रह्माने अपनी वधूको सान्त्वना दी ॥ ५ ॥

अश्रुबिन्दूद्भवा तस्याः प्रावर्तत महानदी।
अनुवर्तती सृतिं तस्या भृगोः पत्न्या यशस्विनः ॥ ६ ॥

उस पुलोमाके आंसुओंसे निकली हुई महानदी वहां बहने लगी और वह नदी उस यशस्वी भृगुपत्नीके मार्गका अनुसरण करने लगी ॥ ६ ॥

तस्या मार्गं सृतवतीं दृष्ट्वा तु सरितं तदा।
नाम तस्यास्तदा नद्याश्चक्रे लोकपितामहः।
वधूसरेति भगवांश्च्यवनस्याश्रमं प्रति ॥ ७ ॥

तब अश्रुसे निकली हुई उस नदीको वधूके साथ भगवान् च्यवनके आश्रमकी ओर बहते हुए देख कर सब लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने उसका नाम "वधूसरा" रखा ॥ ७ ॥

स एवं च्यवनो जज्ञे भृगोः पुत्रः प्रतापवान्।
तं ददर्श पिता तत्र च्यवनं तां च भामिनीम् ॥ ८ ॥

भृगुके पुत्र प्रतापी च्यवन इस प्रकारसे उत्पन्न हुए थे। तब पिता महर्षि भृगुने उस दशामें अपने पुत्र च्यवन और पत्नीको देखा ॥ ८ ॥

स पुलोमां ततो भार्यां पप्रच्छ कुपितो भृगुः।
केनासि रक्षसे तस्मै कथितेह जिहीर्षवे।
न हि त्वां वेद तद्रक्षो मद्भार्यां चारुहासिनीम् ॥ ९ ॥

और बहुत क्रोधित होकर इस भृगुने अपनी स्त्री पुलोमासे पूछा, तुम्हें हरकर ले जानेकी इच्छावाले उस राक्षसको किसने तुम्हारा परिचय दिया? क्योंकि वह राक्षस तो सुन्दर हंसीवाली मेरी पत्नी तुमको नहीं जानता ॥ ९ ॥

तत्त्वमाख्याहि तं ह्यद्य शप्तुमिच्छाम्यहं रुषा।
बिभेति को न शापान्मे कस्य चायं व्यतिक्रमः ॥ १० ॥

तुम सच सच बोलो, मैं क्रोधसे उसको आज शाप देना चाहता हूं। किसने यह अनिष्ट किया? कौन मेरे शापसे भय नहीं खाता? ॥ १० ॥

पुलोमोवाच

अग्निना भगवंस्तस्मै रक्षसेऽहं निवेदिता।
ततो मामनयद्रक्षः क्रोशन्तीं कुररीमिव ॥ ११ ॥

पुलोमा बोली– हे भगवन्! अग्निने उस राक्षसको मेरा परिचय दिया था, इसीसे राक्षस कुरङ्गीके समान रोती हुई मुझको ले भागा ॥ ११ ॥

साहं तव सुतस्यास्य तेजसा परिमोक्षिता।
भस्मीभूतं च तद्रक्षो मामुत्सृज्य पपात वै ॥ १२ ॥

अन्तमें तुम्हारे इस पुत्रके तेजके प्रभावने मुझे छुडाया। और वह राक्षस मुझको छोडकर भस्म होकर भूमिपर गिर पडा ॥ १२ ॥

सूत उवाच

इति श्रुत्वा पुलोमाया भृगुः परममन्युमान्।
शशापाग्निमभिक्रुद्धः सर्वभक्षो भविष्यसि ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥ (६९८)

सूत बोले– अतिक्रोधी भृगुने पुलोमाकी यह बात सुनकर बहुत क्रोधित होकर अग्निको यह शाप दिया कि "तुम सर्वभक्षी अर्थात् सबको खा जानेवाले हो जाओगे" ॥ १३ ॥

॥ श्री महाभारतमें आदिपर्वमें छठवां अध्याय समाप्त ॥ ६९८ ॥

: ७ :

सूत उवाच

शप्तस्तु भृगुणा वह्निः क्रुद्धो वाक्यमथाब्रवीत् ।
किमिदं साहसं ब्रह्मन्कृतवानसि सांप्रतम् ॥ १ ॥

सूत बोले— भृगुके द्वारा शाप देने पर अग्निने क्रोधित होकर यह वाक्य कहा, "हे ब्रह्मन्! तुमने इस समय यह क्या साहस कर डाला? ॥ १ ॥

धर्मे प्रयतमानस्य सत्यं च वदतः समम् ।
पृष्टो यदब्रुवं सत्यं व्यभिचारोऽत्र को मम ॥ २ ॥

पूछे जानेपर जो मैंने सत्य बात कही, तो उसमें धर्मका आचरण करनेवाले, सदा सत्य बोलनेवाले, और पक्षपात न करनेवाले मेरा क्या दोष है? अर्थात् पुलोमाके बारेमें सच्ची बात बताकर मैंने क्या अपराध किया? ॥ २ ॥

पृष्टो हि साक्षी यः साक्ष्यं जानमानोऽन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मनः सप्त कुले हन्यात्तथा परान् ॥ ३ ॥

जो साक्षी सच्ची बात जाननेपर भी पूछे जानेपर झूठी गवाही देता है, वह अपने पहलेके सात कुल और आगे आनेवाली सात पीढियोंको मार देता है ॥ ३ ॥

यश्च कार्यार्थतत्त्वज्ञो जानमानो न भाषते ।
सोऽपि तेनैव पापेन लिप्यते नात्र संशयः ॥ ४ ॥

जो जन गूढतत्त्व और सच्ची बात भी जानकर गवाही नहीं देता, वह भी उसी उक्त पापसे लिप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४ ॥

शक्तोऽहमपि शप्तुं त्वां मान्यास्तु ब्राह्मणा मम ।
जानतोऽपि च ते व्यक्तं कथयिष्ये निबोध तत् ॥ ५ ॥

मैं भी तुमको शाप दे सकता हूं, पर मेरे लिए ब्राह्मण आदरके योग्य हैं, (इसी कारण तुम्हें भी ब्राह्मण समझकर तुम्हारे प्रति आदरभाव रखनेके कारण तुम्हें शाप नहीं देता हूं) तुम सब जानते हो तो भी स्पष्ट करके करता हूं, सुनो ॥ ५ ॥

योगेन बहुधात्मानं कृत्वा तिष्ठामि मूर्तिषु ।
अग्निहोत्रेषु सत्रेषु क्रियास्वथ मखेषु च ॥ ६ ॥

मैं योगबलसे अपनेको अनेक भागोंमें बांटकर मूर्तियोंमें, अग्निहोत्रोंमें, सत्रों, यज्ञ और सम्पूर्ण क्रियाओंमें विराजता हूं ॥ ६ ॥

वेदोक्तेन विधानेन मयि यद्धूयते हविः।
देवताः पितरश्चैव तेन तृप्ता भवन्ति वै ॥ ७॥

वेदोक्त विधानसे मुझमें जो हविर्द्रव्य चढाया जाता है, उससे देवगण और पितर तृप्त होते हैं ॥ ७॥

आपो देवगणाः सर्वे आपः पितृगणास्तथा।
दर्शश्च पौर्णमासश्च देवानां पितृभिः सह ॥ ८॥

जल ही सब देवता हैं और जल ही पितर हैं। देवता और पितरोंके निमित्त दर्श और पौर्णमास यज्ञ किये जाते हैं ॥ ८॥

देवताः पितरस्तस्मात्पितरश्चापि देवताः।
एकीभूताश्च पूज्यन्ते पृथक्त्वेन च पर्वसु ॥ ९॥

अतः देवता ही पितर हैं और पितर ही देवता हैं। वे पर्वोंमें कभी एक रूपसे और कभी पृथक् रूपसे पूजित होते हैं ॥ ९॥

देवताः पितरश्चैव जुह्वते मयि यत्सदा।
त्रिदशानां पितॄणां च मुखमेवमहं स्मृतः ॥ १०॥

देवगण और पितृगण भी मुझमें हमेशा हवि डाला करते हैं। अतः मैं ही उन देवताओं और पितरोंका मुख माना गया हूं ॥ १०॥

अमावास्यां च पितरः पौर्णमास्यां च देवताः।
मन्मुखेनैव हूयन्ते भुञ्जते च हुतं हविः।
सर्वभक्षः कथं तेषां भविष्यामि मुखं त्वहम् ॥ ११॥

अमावास्यामें पितरलोग और पौर्णमासीमें देवलोग आहुति पाते हैं और मेरे मुखसे ही डाली गई हवि खाते हैं, अतः मैं उन (देवताओं और पितरों) का मुखरूप हो करके सर्वभक्षक कैसे बनूं? ॥ ११-॥

चिन्तयित्वा ततो वह्निश्चक्रे संहारमात्मनः।
द्विजानामग्निहोत्रेषु यज्ञसत्रक्रियासु च ॥ १२॥

इसके बाद अग्निने कुछ काल सोचकर ब्राह्मणोंके अग्निहोत्र, सत्र, यज्ञ और दूसरी क्रियाओंसे अपनेको समेट लिया अर्थात् उनसे अपनेको अलग कर लिया ॥ १२॥

निरोङ्कारवषट्काराः स्वधास्वाहाविवर्जिताः।
विनाग्निना प्रजाः सर्वास्तत आसन्सुदुःखिताः ॥ १३॥

तब सब प्रजायें अग्निके विना, ओंकार, वषट्कार, स्वधा और स्वाहादिसे वर्जित होकर अति दुःखी हो गईं ॥ १३॥

अथर्षयः समुद्विग्ना देवान्गत्वाब्रुवन्वचः ।
अग्निनाशात्क्रियाभ्रंशाद्भ्रान्ता लोकास्त्रयोऽनघाः ।
विधध्वमत्र यत्कार्यं न स्यात्कालात्ययो यथा ॥ १४ ॥

इस पर ऋषिलोग अति व्याकुल होकर देवताओंके समीप जाकर यह वचन बोले, " हे निष्पाप देवगण ! अग्निके नष्ट होनेके कारण तीनों लोक (अग्निहोत्रादि) क्रियाओंसे वर्जित होकर भ्रान्त हो गए हैं इस समय जो करना उचित समझें, करें, जिससे समय बरबाद न हो ॥ १४ ॥

अथर्षयश्च देवाश्च ब्रह्माणमुपगम्य तु ।
अग्नेरावेदयञ्शापं क्रियासंहारमेव च ॥ १५ ॥

इसके बाद देवता और ऋषिलोग ब्रह्माके समीप जाकर अग्निके शाप और इससे ब्राह्मणोंकी क्रियादिके लोप होनेका समाचार बताया ॥ १५ ॥

भृगुणा वै महाभाग शप्तोऽग्निः कारणान्तरे ।
कथं देवमुखो भूत्वा यज्ञभागाग्रभुक्तथा ।
हुतभुक्सर्वलोकेषु सर्वभक्षत्वमेष्यति ॥ १६ ॥

" हे महाभाग ! किसी कारणसे भृगुने अग्निको शाप दिया है । यज्ञमें दिए जानेवाले भागका सर्व प्रथम भोजन करनेवाले तथा तीनों लोकोंमें दी हुई आहुतियोंको खानेवाले अग्नि देवताओंके मुखरूप होकर सर्व भक्षक कैसे हो सकते हैं ? " ॥ १६ ॥

श्रुत्वा तु तद्वचस्तेषामग्निमाहूय लोककृत् ।
उवाच वचनं श्लक्ष्णं भूतभावनमव्ययम् ॥ १७ ॥

सब लोकोंकी रचना करनेवाले ब्रह्मा उनकी वह बात सुनकर अव्यय अर्थात् कभी नष्ट न होनेवाले और भूतभावन (प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले) अग्निको बुला करके बडे मीठे वचन बोले ॥ १७ ॥

लोकानामिह सर्वेषां त्वं कर्ता चान्त एव च ।
त्वं धारयसि लोकांस्त्रीन्क्रियाणां च प्रवर्तकः ।
स तथा कुरु लोकेश नोच्छिद्येरन्क्रिया यथा ॥ १८ ॥

" हे अग्ने ! तुम सब लोकोंके कर्ता और संहर्ता हो, तुमही तीनों लोकोंको धारण करते हो और तुम्हीं सब अग्निहोत्रादि क्रियाओंके करानेवाले हो, अतएव हे सब लोकोंके ईश्वर अग्ने ! ऐसा करो कि जिससे अग्निहोत्रादि क्रियाओंका लोप न हो ॥ १८ ॥

कस्मादेवं विमूढस्त्वमीश्वरः सन्हुताशनः ।
त्वं पवित्रं यदा लोके सर्वभूतगतश्च ह ॥ १९ ॥

तुम आहुतियोंको खानेवाले और लोकपाल होने पर भी क्यों ऐसे मुग्ध हो रहे हो ? तुम इसलोकमें पवित्र और सभी लोकोंकी गति हो ॥ १९ ॥

न त्वं सर्वशरीरेण सर्वभक्षत्वमेष्यसि ।
उपादानेऽर्चिषो यास्ते सर्वं धक्ष्यन्ति ताः शिखिन् ॥ २० ॥

अतः तुम सब शरीरसे सर्वभक्षक नहीं होगे । हे ज्वालावाले अग्ने ! जो तुम्हारी ज्वालाएं हैं, वे ग्रहण करने पर (अर्थात् उनके सम्पर्कमें आने पर) ही सर्वभक्षक होंगी ॥ २० ॥

यथा सूर्यांशुभिः स्पृष्टं सर्वं शुचि विभाव्यते ।
तथा त्वदर्चिर्निर्दग्धं सर्वं शुचि भविष्यति ॥ २१ ॥

जैसे सूर्यकिरणके स्पर्शसे हरेक वस्तु शुद्ध होती है, वैसेही तुम्हारी ज्वालासे जल कर सब वस्तुएँ पवित्र हो जायेंगी ॥ २१ ॥

तदग्ने त्वं महत्तेजः स्वप्रभावाद्विनिर्गतम् ।
स्वतेजसैव तं शापं कुरु सत्यमृषेर्विभो ।
देवानां चात्मनो भागं गृहाण त्वं मुखे हुतम् ॥ २२ ॥

अतः हे व्यापक अग्ने ! तुम महातेजस्वी हो, इसलिए ऋषि भृगुके अपने ही तेजसे निकले उस शापको अपने ही तेजसे सच करके दिखाओ । और अपने मुखमें आहुतिके रूपमें दिए गए देवोंके और अपने हविके भागको स्वीकार करो ॥ २२ ॥

एवमस्त्विति तं वह्निः प्रत्युवाच पितामहम् ।
जगाम शासनं कर्तुं देवस्य परमेष्ठिनः ॥ २३ ॥

अग्निने उस पितामह ब्रह्मासे कहा " एवमस्तु " और परमेष्ठी देवकी आज्ञाका पालन करनेके लिए चले गये ॥ २३ ॥

देवर्षयश्च मुदितास्ततो जग्मुर्यथागतम् ।
ऋषयश्च यथापूर्वं क्रियाः सर्वाः प्रचक्रिरे ॥ २४ ॥

देवता और ऋषिलोग भी हर्षित होकर जहांसे जिस प्रकार आए थे, उसी प्रकार वहीं चले गए और ऋषिगण भी पूर्ववत् सब क्रियायें करने लगे ॥ २४ ॥

दिवि देवा मुमुदिरे भूतसंघाश्च लौकिकाः ।
अग्निश्च परमां प्रीतिमवाप हतकल्मषः ॥ २५ ॥

देवलोकमें सम्पूर्ण देव और पृथ्वी पर सब प्राणी बहुत खुश हुए । अग्नि भी शापसे मुक्त होकर अति प्रसन्न हुए ॥ २५ ॥

एवमेष पुरावृत्त इतिहासोऽग्निशापजः ।
पुलोमस्य विनाशश्च च्यवनस्य च संभवः ॥ २६ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥ (६९८)

यह अग्निके शाप-सम्बन्धी पुराना इतिहास, पुलोम राक्षसका नाश और च्यवनकी उत्पत्ति कही गई ॥ २६ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सातवां अध्याय समाप्त ॥ ६९८ ॥

: ८ :

सूत उवाच

स चापि च्यवनो ब्रह्मन्भार्गवोऽजनयत्सुतम् ।
सुकन्यायां महात्मानं प्रमतिं दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

सूत बोले- कि हे ब्रह्मन् ! भृगुनन्दन उन च्यवनने भी सुकन्याके गर्भमें प्रमति नामक एक अत्यन्त तेजस्वी महात्मा पुत्र उत्पन्न किया ॥ १ ॥

प्रमतिस्तु रुरुं नाम घृताच्यां समजीजनत् ।
रुरुः प्रमद्वरायां तु शुनकं समजीजनत् ॥ २ ॥

प्रमतिने भी घृताची (एक अप्सरा) के गर्भसे रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया, रुरुने प्रमद्वरामें शुनकको उत्पन्न किया ॥ २ ॥

तस्य ब्रह्मन्रुरोः सर्वं चरितं भूरितेजसः ।
विस्तरेण प्रवक्ष्यामि तच्छृणु त्वमशेषतः ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मन् ! मैं उस अति तेजस्वी रुरुके सम्पूर्ण चरित्रको विस्तारसे कहता हूं, तुम उसे पूरी तरह सुनो ॥ ३ ॥

ऋषिरासीन्महान्पूर्वं तपोविद्यासमन्वितः ।
स्थूलकेश इति ख्यातः सर्वभूतहिते रतः ॥ ४ ॥

हे विप्रर्षि ! पहिले तप और विद्यासे युक्त और सर्व भूतोंके हितैषी स्थूलकेशके नामसे प्रसिद्ध एक महान् महर्षि हो गए हैं ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु मेनकायां प्रजज्ञिवान्।
गन्धर्वराजो विप्रर्षे विश्वावसुरिति श्रुतः ॥ ५ ॥
अथाप्सरा मेनका सा तं गर्भं भृगुनन्दन।
उत्ससर्ज यथाकालं स्थूलकेशाश्रमं प्रति ॥ ६ ॥

हे विप्रर्षे! उसी समय विश्वावसुके नामसे प्रसिद्ध एक गन्धर्वराजने मेनका अप्सरामें एक सन्तान उत्पन्न की। बादमें हे भृगुनन्दन! उस अप्सरा मेनकाने यथासमय उस गर्भको स्थूलकेश ऋषिवरके आश्रमके निकट छोड दिया ॥ ५-६ ॥

उत्सृज्य चैव तं गर्भं नद्यास्तीरे जगाम ह।
कन्याममरगर्भाभां ज्वलन्तीमिव च श्रिया ॥ ७ ॥
तां ददर्श समुत्सृष्टां नदीतीरे महानृषिः।
स्थूलकेशः स तेजस्वी विजने बन्धुवर्जिताम् ॥ ८ ॥

और नदीतट पर उस गर्भको छोडकर चली गई। बादमें अमर देवकी कन्याके समान तेजस्वी तथा तेजसे जलती हुई की तरह, जनरहित नदीके किनारे छोडी गई, तथा भाई बन्धुओंसे रहित उस कन्याको उस तेजस्वी महान् ऋषि स्थूलकेशने देखा ॥ ७-८ ॥

स तां दृष्ट्वा तदा कन्यां स्थूलकेशो द्विजोत्तमः।
जग्राहाथ मुनिश्रेष्ठः कृपाविष्टः पुपोष च।
ववृधे सा वरारोहा तस्याश्रमपदे शुभा ॥ ९ ॥

ब्राह्मणों और मुनियोंमें श्रेष्ठ स्थूलकेशने तब उस कन्याको देखकर दयावश हो करके उठा लिया और वे उसे पालने लगे। वह कमलके समान सुन्दर और कल्याणी कन्या ऋषिके पवित्र आश्रममें बढने लगी ॥ ९ ॥

प्रमदाभ्यो वरा सा तु सत्त्वरूपगुणान्विता।
ततः प्रमद्वरेत्यस्या नाम चक्रे महानृषिः ॥ १० ॥

रूप, सत्त्व तथा गुणादिसे युक्त वह कन्या संपूर्ण प्रमदाओं (स्त्रियोंमें) से अच्छी थी, इस कारण महर्षिने उस कन्याका नाम प्रमद्वरा रख दिया ॥ १० ॥

तामाश्रमपदे तस्य रुरुर्दृष्ट्वा प्रमद्वराम्।
बभूव किल धर्मात्मा मदनानुगतात्मवान् ॥ ११ ॥

धर्मात्मा आत्मशक्तिवाले रुरु उस ऋषिके आश्रममें उस प्रमद्वराको देखकर कामसे पीडित हो गए ॥ ११ ॥

पितरं सखिभिः सोऽथ वाचयामास भार्गवः ।
प्रमतिश्चाभ्ययाच्छ्रुत्वा स्थूलकेशं यशस्विनम् ॥ १२ ॥

भृगुवंशीय रुरुने अपने प्यारे साथियोंसे पिताके समीप अपना अभिप्राय प्रगट करवाया। (रुरुके पिता) प्रमति भी यह सुनकर यशस्वी स्थूलकेशके पास गये ॥ १२ ॥

ततः प्रादात्पिता कन्यां रुरवे तां प्रमद्वराम् ।
विवाहं स्थापयित्वाग्रे नक्षत्रे भगदैवते ॥ १३ ॥

प्रमद्वराके पिता स्थूलकेशने रुरुके लिए वह कन्या प्रमद्वरा देदी । उत्तर फाल्गुनी नक्षत्रमें उनके विवाहका दिन भी निश्चित कर दिया ॥ १३ ॥

ततः कतिपयाहस्य विवाहे समुपस्थिते ।
सखीभिः क्रीडती सार्धं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ १४ ॥
नापश्यत प्रसुप्तं वै भुजगं तिर्यगायतम् ।
पदा चैनं समाक्रामन्मुमूर्षुः कालचोदिता ॥ १५ ॥

इसके बाद विवाहके कुछ दिन पहिले अलौकिक रूपवती उस कन्याने सहेलियोंके संग खेलते हुए तिरछे लेटे हुए एक लंबे सर्पको नहीं देखा और मरनेकी इच्छावाली उसने कालसे प्रेरित होकर उस सर्प पर पैर रख दिया ॥ १४–१५ ॥

स तस्याः संप्रमत्तायाश्चोदितः कालधर्मणा ।
विषोपलिप्तान्दशनान्भृशमङ्गे न्यपातयत् ॥ १६ ॥

कालधर्मसे प्रेरित होकर सर्पने भी प्रमत्त उस बालाकी देहमें विषैले दांतोंको बुरी तरह गडा दिया ॥ १६ ॥

सा दष्टा सहसा भूमौ पतिता गतचेतना ।
व्यसुरप्रेक्षणीयापि प्रेक्षणीयतमाकृतिः ॥ १७ ॥

सर्पसे काटी जाकर वह प्रमद्वरा निष्प्राण होकर भूमिपर अचानक गिर पडी और जो प्राण रहित होनेके कारण देखने योग्य होकर भी देखनेके अयोग्य हो गई ॥ १७ ॥

प्रसुप्तेवाभवच्चापि भुवि सर्पविषार्दिता ।
भूयो मनोहरतरा बभूव तनुमध्यमा ॥ १८ ॥

उसका रंग बदला जान पडने लगा, कि मानों वह सर्प-विषसे जली धरती पर सो रही है; अतः मरनेपर भी वह पतली कमरवाली प्रमद्वरा और ज्यादा सुन्दर हो गई ॥ १८ ॥

दर्दर्श तां पिता चैव ते चैवान्ये तपस्विनः।
विचेष्टमानां पतितां भूतले पद्मवर्चसम् ॥ १९ ॥

उसके पिता स्थूलकेश और दूसरे तपस्वियोंने कमलके समान तेजवाली तथा भूमिपर पडी उस अचेत कन्याको देखा ॥ १९ ॥

ततः सर्वे द्विजवराः समाजग्मुः कृपान्विताः।
स्वस्त्यात्रेयो महाजानुः कुशिकः शङ्खमेखलः ॥ २० ॥

तब सब ब्राह्मणश्रेष्ठ दयायुक्त होकर (उसे देखनेको) उपस्थित हुए। स्वस्त्यात्रेय, महाजानु, कुशिक, शङ्खमेखल, ॥ २० ॥

भारद्वाजः कौणकुत्स आर्ष्टिषेणोऽथ गौतमः।
प्रमतिः सह पुत्रेण तथान्ये वनवासिनः ॥ २१ ॥
तां ते कन्यां व्यसुं दृष्ट्वा भुजङ्गस्य विषार्दिताम्।
रुरुदुः कृपयाविष्टा रुरुस्त्वार्तो बहिर्ययौ ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥ (७२०)

भरद्वाज, कौणकुत्स, आर्ष्टिषेण और गौतम, प्रमति, उनके पुत्र रुरु और दूसरे वनवासी लोग उस कन्याको सर्पविषसे जली हुई और प्राणरहित देखकर रोने लगे। रुरु तो शोकाकुल हो और करुणासे भरकर बाहर चले गये ॥ २१--२२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें आठवां अध्याय समाप्त ॥ ७२० ॥

: ९ :

सूत उवाच

तेषु तत्रोपविष्टेषु ब्राह्मणेषु समन्ततः।
रुरुश्चुक्रोश गहनं वनं गत्वा सुदुःखितः ॥ १ ॥

सूत बोले-- कि ब्राह्मणोंके उस स्थानमें चारों ओर बैठ जाने पर रुरु अति दुःखी होकरके घने वनमें जाकर रोने लगे ॥ १ ॥

शोकेनाभिहतः सोऽथ विलपन्करुणं बहु।
अब्रवीद्वचनं शोचन्प्रियां चिन्त्य प्रमद्वराम् ॥ २ ॥

और अति शोकसे विवश होकर उसने करुण स्वरसे बहुत विलाप करते हुए अपनी प्रिया प्रमद्वराकी चिन्ता करके शोकसे ये वचन कहे ॥ २ ॥

शेते सा भुवि तन्वङ्गी मम शोकविवर्धिनी ।
बान्धवानां च सर्वेषां किं नु दुःखमतः परम् ॥ ३ ॥

" मेरा शोक बढानेवाली वह पतले अंगोंवाली प्रमद्वरा धरती पर सो रही है, मेरे और गांधर्वोंके लिये इससे अधिक दुःख और क्या होगा ॥ ३ ॥

यदि दत्तं तपस्तप्तं गुरवो वा मया यदि ।
सम्यगाराधितास्तेन संजीवतु मम प्रिया ॥ ४ ॥

यदि मैंने दान दिया हो, तप किया हो या गुरुजनोंकी अच्छी सेवा की हो, तो इससे मेरी प्रिया जी उठे ॥ ४ ॥

यथा जन्मप्रभृति वै यतात्माहं धृतव्रतः ।
प्रमद्वरा तथाद्यैव समुत्तिष्ठतु भामिनी ॥ ५ ॥

और यदि मैं जन्मसे व्रतशील और जितेंद्रिय रहा हूं, तो आज ही यह सुन्दरी प्रमद्वरा उठ खडी हो ॥ ५ ॥

देवदूत उवाच

अभिधत्से ह यद्वाचा रुरो दुःखेन तन्मृषा ।
न तु मर्त्यस्य धर्मात्मन्नायुरस्ति गतायुषः ॥ ६ ॥

देवदूत बोले-- " हे रुरो ! तुम दुःखी होकर वाणीसे जो कुछ कह रहे हो, सब व्यर्थ है, क्योंकि हे धर्मात्मन् ! जिसकी आयु पूरी हो गई है, उसे फिर आयु नहीं मिल सकती ॥ ६ ॥

गतायुरेषा कृपणा गन्धर्वाप्सरसोः सुता ।
तस्माच्छोके मनस्तात मा कृथास्त्वं कथंचन ॥ ७ ॥

उस बेचारी अप्सरा और गंधर्वकी कन्याकी आयु पूरी हो चुकी है, अत एव तात ! तुम शोकसे चित्तको किसी प्रकार भी विकल मत करो ॥ ७ ॥

उपायश्चात्र विहितः पूर्वं देवैर्महात्मभिः ।
तं यदीच्छसि कर्तुं त्वं प्राप्स्यसीमां प्रमद्वराम् ॥ ८ ॥

परन्तु महात्मा देवताओंने पहले इसके लिये एक उपाय बताया है, यदि तुम वह करना चाहो, तो इस प्रमद्वराको पा सकोगे " ॥ ८ ॥

रुरुरुवाच

क उपायः कृतो देवैर्ब्रूहि तत्त्वेन खेचर ।
करिष्ये तं तथा श्रुत्वा त्रातुमर्हति मां भवान् ॥ ९ ॥

रुरु बोले-- " हे आकाशमें विचरनेवाले देवदूत ! देवताओंने क्या उपाय बताया है, उसे ठीक ठीक बताओ; उसे सुनकर उसके अनुसार कार्य करूंगा, तुम मुझे बचाओ । " ॥९॥

देवदूत उवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छस्व कन्यायै भृगुनन्दन।
एवमुत्थास्यति रुरो तव भार्या प्रमद्वरा ॥ १० ॥

देवदूत बोले-- " हे भृगुनन्दन रुरो ! तुम उस कन्याको अपनी आयुका आधाभाग दे दो, ऐसा करने ही से तुम्हारी पत्नी प्रमद्वरा जी उठेगी " ॥ १० ॥

रुरुरुवाच

आयुषोऽर्धं प्रयच्छामि कन्यायै खेचरोत्तम।
शृङ्गाररूपाभरणा उत्तिष्ठतु मम प्रिया ॥ ११ ॥

रुरु बोले " आकाशमें विचरनेवालोंमें उत्तम देवदूत ! मैं इस कन्याको अपनी आयुका अर्द्ध-भाग देता हूं, शृंगार, रूप और आभूषणोंसे सुशोभिता मेरी प्रिया प्रमद्वरा फिर जी उठे।" ॥ ११ ॥

सूत उवाच

ततो गन्धर्वराजश्च देवदूतश्च सत्तमौ।
धर्मराजमुपेत्येदं वचनं प्रत्यभाषताम् ॥ १२ ॥

सूत बोले-- कि अनन्तर श्रेष्ठ देवदूत और गंधर्वराज दोनों धर्मराजके समीप जाकर यह वचन बोले ॥ १२ ॥

धर्मराजायुषोऽर्धेन रुरोर्भार्या प्रमद्वरा।
समुत्तिष्ठतु कल्याणी मृतैव यदि मन्यसे ॥ १३ ॥

" हे धर्मराज ! यदि आप अनुमति दें, तो रुरुकी मरी हुई सी कल्याणी प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयुसे जी जाए।" ॥ १३ ॥

धर्मराज उवाच

प्रमद्वरा रुरोर्भार्या देवदूत यदीच्छसि।
उत्तिष्ठत्वायुषोऽर्धेन रुरोरेव समन्विता ॥ १४ ॥

धर्मराज बोले-- " हे देवदूत ! यदि तुम ऐसा ही चाहते हो, तो रुरुकी पत्नी प्रमद्वरा रुरुकी आधी आयु पाकर फिर जी जाये।" ॥ १४ ॥

सूत उवाच

एवमुक्ते ततः कन्या सोदतिष्ठत्प्रमद्वरा।
रुरोस्तस्यायुषोऽर्धेन सुप्तेव वरवर्णिनी ॥ १५ ॥

सूत बोले--धर्मराजके ऐसा कहनेपर वरवर्णिनी कन्या प्रमद्वरा उस रुरुकी आधी आयु पाकर मानों निद्रासे जगनेके समान उठ बैठी ॥ १५ ॥

एतदृष्टं भविष्ये हि रुरोरुत्तमतेजसः ।
आयुषोऽतिप्रवृद्धस्य भार्यार्थेऽर्धं ह्रसत्विति ॥ १६ ॥

भविष्यत्में भी यह देखनेमें आवेगा, कि उत्तम तेजस्वी रुरुकी दीर्घ आयुका आधा अंश भार्याके निमित्त क्षय हुआ था ॥ १६ ॥

तत इष्टेऽहनि तयोः पितरौ चक्रतुर्मुदा ।
विवाहं तौ च रेमाते परस्परहितैषिणौ ॥ १७ ॥

अनन्तर रुरु और प्रमद्वराके पिताओं (प्रमति तथा स्थूलकेश) ने अति आनन्दसे उत्तम दिनमें उनका विवाह कर दिया । वे दोनों परस्परके हितकी इच्छा करते हुए क्रीडा करने लगे ॥ १७ ॥

स लब्ध्वा दुर्लभां भार्यां पद्मकिंजल्कसप्रभाम् ।
व्रतं चक्रे विनाशाय जिह्मगानां धृतव्रतः ॥ १८ ॥

कमलतन्तुके समान रूपवती दुर्लभा भार्याको पाकर उस व्रतशील रुरुने सर्पोंको नष्ट करनेका प्रण ठाना ॥ १८ ॥

स दृष्ट्वा जिह्मगान्सर्वांस्तीव्रकोपसमन्वितः ।
अभिहन्ति यथासन्नं गृह्य प्रहरणं सदा ॥ १९ ॥

सर्प देखते ही वह अति क्रोधवश होकर लाठीसे अपनी शक्तिके अनुसार उसे नष्ट कर देता था ॥ १९ ॥

स कदाचिद्वनं विप्रो रुरुरभ्यगमन्महत् ।
शयानं तत्र चापश्यड्डुण्डुभं वयसान्वितम् ॥ २० ॥

एक दिन वह ज्ञानी रुरु घने वनमें गया और उसने एक बूढे दुमुंही सांपको वहां सोते हुए देखा ॥ २० ॥

तत उद्यम्य दण्डं स कालदण्डोपमं तदा ।
अभ्यघ्नद्रुषितो विप्रस्तमुवाचाथ डुण्डुभः ॥ २१ ॥

(उसे देखकर) क्रोधित होकर यमदण्डके समान लकडी उठा करके वह ज्ञानी रुरु उसको नष्ट करनेको चले तो दुमुंही सांप बोला ॥ २१ ॥

नापराध्यामि ते किंचिदहमद्य तपोधन ।
संरम्भात्तत्किमर्थं मामभिहंसि रुषान्वितः ॥ २२ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥ ७६८ ॥

" हे तपोधन ! आज मैंने तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया, तो भी क्रोधवश होकर मुझको क्यों मारते हो ? " ॥ २२ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें नौवां अध्याय समाप्त ॥ ७६८ ॥

: १० :

रुरुरुवाच

मम प्राणसमा भार्या दष्टासीद्भुजगेन ह।
तत्र मे समयो घोर आत्मनोरग वै कृतः ॥ १ ॥

रुरु बोला– "हे भुजंग! एक सर्पने मेरी प्राण प्यारी भार्याको डस लिया था, इससे मैंने यह अपना भयानक नियम बना लिया है ॥ १ ॥

हन्यां सदैव भुजगं यं यं पश्येयमित्युत।
ततोऽहं त्वां जिघांसामि जीवितेन विमोक्ष्यसे ॥ २ ॥

कि जब जिस जिस सर्पको देखूंगा, तभी उसको नष्ट कर दूंगा, इसलिये मैं तुम्हें मारनेकी इच्छा करता हूँ, आज तुम जिन्दगीसे छूट जाओगे ॥ २ ॥

डुण्डुभ उवाच

अन्ये ते भुजगा विप्र ये दशन्तीह मानवान्।
डुण्डुभानहिगन्धेन न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

सांप बोला– "हे ज्ञानी! जो सर्प मनुष्योंको डंसते हैं, वे दूसरी जातिके होते हैं, अत एव सर्प नामकी गन्ध पाते ही विषरहित दुमुंहीकी हिंसा करना आपको उचित नहीं है ॥ ३ ॥

एकानर्थान्पृथगर्थानेकदुःखान्पृथक्सुखान्।
डुण्डुभान्धर्मविद्भूत्वा न त्वं हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

दुमुंही सर्प जाति अनर्थ भोगनेमें सब सर्पोंके समान है, पर स्वभावमें उनसे पृथक् है। अमंगल और दुःख भोगनेके कालमें दोनों समान हैं, किन्तु सुख सबका अलग अलग है, अत एव धर्मशास्त्रमें पण्डित होकर आपको दुमुंही जातिकी हिंसा नहीं करना चाहिये ॥४॥

सूत उवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य भुजगस्य रुरुस्तदा।
नावधीद्भयसंविग्न ऋषिं मत्वाथ डुण्डुभम् ॥ ५ ॥

सूत बोले– कि तब भयसे जकडे हुए रुरुने उस सर्पकी ऐसी बात सुनकर उस दुमुंही को ऋषि मानकर नहीं मारा ॥ ५ ॥

उवाच चैनं भगवन्रुरुः संशमयन्निव।
कामया भुजग ब्रूहि कोऽसीमां विक्रियां गतः ॥ ६ ॥

रुरु उसको ढांढस देकर बोले– "हे भगवन् भुजंग! मुझसे बोलो, कि ऐसी दशाको प्राप्त हुए हुए तुम कौन हो" ॥ ६ ॥

डुण्डुभ उवाच

अहं पुरा रुरो नाम्ना ऋषिरासं सहस्रपात्।
सोऽहं शापेन विप्रस्य भुजगत्वमुपागतः ॥ ७ ॥

डुंडुभ बोला— "हे रुरो! मैं पहिले सहस्रपात् नामका एक ऋषि था, बादमें वह मैं ब्राह्मणके शापसे सर्पत्वको प्राप्त हो गया।" ॥ ७ ॥

रुरुरुवाच

किमर्थं शप्तवान्क्रुद्धो द्विजस्त्वां भुजगोत्तम।
कियन्तं चैव कालं ते वपुरेतद्भविष्यति ॥ ८ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥ ७७६ ॥

रुरु बोले— "हे सर्पश्रेष्ठ! ब्राह्मणने क्रोधित होकर किस हेतु तुमको शाप दिया था? और कितने समयतक तुम्हारा यह सर्प-शरीर रहेगा?" ॥ ८ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें दसवां अध्याय समाप्त ॥ ७७६ ॥

: ११ :

डुण्डुभ उवाच

सखा बभूव मे पूर्वं खगमो नाम वै द्विजः।
भृशं संशितवाक्तात तपोबलसमन्वितः ॥ १ ॥

डुंडुभ बोला— "पहिले खगम नामक बहुत सत्यवादी, तपोबलसे युक्त ब्राह्मण मेरा मित्र था ॥ १ ॥

स मया क्रीडता बाल्ये कृत्वा तार्णमथोरगम्।
अग्निहोत्रे प्रसक्तः सन्भीषितः प्रमुमोह वै ॥ २ ॥

एक दिन बालस्वभावसे खेलते हुए मैंने तृणका सर्प बनाकर अग्निहोत्रमें लगे हुए उसको डराया, इससे वह मूर्च्छित हो गया ॥ २ ॥

लब्ध्वा च स पुनः संज्ञां मामुवाच तपोधनः।
निर्दहन्निव कोपेन सत्यवाक्संशितव्रतः ॥ ३ ॥

बादमें वह व्रतशील, सत्यवादी तपोधन होशमें आकर, मानो मुझको कोपाग्निसे जलाते हुए बोले ॥ ३ ॥

यथावीर्यस्त्वया सर्पः कृतोऽयं मद्विभीषया।
तथावीर्यो भुजङ्गस्त्वं मम कोपाद्भविष्यसि ॥ ४ ॥

"तुमने जिस प्रकार मुझको भारी भयमें डालनेके निमित्त वीर्यरहित तृणका यह सर्प बनाया है, उसी प्रकार मेरे कोपसे तुम भी वीर्यरहित सर्प होगे ॥ ४ ॥

तस्याहं तपसो वीर्यं जानमानस्तपोधन।
भृशमुद्विग्नहृदयस्तमवोचं वनौकसम् ॥ ५ ॥

हे तपोधन! मैं उनकी तपस्याके सामर्थ्यसे परिचित था, इस हेतु मैं अति चिन्तित चित्तसे उस वनवासी ऋषिसे बोला ॥ ५ ॥

प्रयतः संभ्रमाच्चैव प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः।
सखेति हसतेदं ते नर्मार्थं वै कृतं मया ॥ ६ ॥

वेगसे और संभ्रमपूर्वक चरणोंमें प्रणाम कर तथा हाथ जोड सामने खडा होकर बोला— "हंसते हुए मैंने मित्र कह कर खेलके निमित्त हंसीमें ऐसा किया है ॥ ६ ॥

क्षन्तुमर्हसि मे ब्रह्मञ्शापोऽयं विनिवर्त्यताम्।
सोऽथ मामब्रवीद्दृष्ट्वा भृशमुद्विग्नचेतसम् ॥ ७ ॥

अतः हे ब्रह्मन्! मुझे क्षमा करें और यह शाप लौटा लें, अनंतर वह मुझे अति उदास चित्तवाला देखकर बोला ॥ ७ ॥

मुहुरुष्णं विनिःश्वस्य सुसंभ्रान्तस्तपोधनः।
नानृतं वै मया प्रोक्तं भवितेदं कथंचन ॥ ८ ॥

व्यथित होकर बारबार गर्म सांस लेते हुए वह तपोधन बोले— मैंने जो बात कही है, वह कभी झूठी नहीं हो सकती ॥ ८ ॥

यत्तु वक्ष्यामि ते वाक्यं शृणु तन्मे धृतव्रत।
श्रुत्वा च हृदि ते वाक्यमिदमस्तु तपोधन ॥ ९ ॥

अतएव हे व्रतशील! तुमसे जो कहता हूं, वह मेरी बात सुनो। हे तपोधन! मेरी यह बात सुनकर सदा तुम्हारे हृदयमें रहे अर्थात् मेरी बात हमेशा ध्यानमें रखना ॥ ९ ॥

उत्पत्स्यति रुरुर्नाम प्रमतेरात्मजः शुचिः।
तं दृष्ट्वा शापमोक्षस्ते भविता नचिरादिव ॥ १० ॥

प्रमतिके रुरु नामक शुद्धाचारी एक पुत्र उत्पन्न होगा, उनको देखकर शीघ्र ही तुम्हारा शाप छूट जाएगा ॥ १० ॥

स त्वं रुरुरिति ख्यातः प्रमतेरात्मजः शुचिः ।
स्वरूपं प्रतिलभ्याहमद्य वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ११ ॥

तुम ही वह प्रमतिके पुत्र प्रसिद्ध पवित्र रुरु हो, अतएव मैं इस समय अपना स्वरूप पाकर तुमको कुछ हितोपदेश करूंगा ॥ ११ ॥

अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां स्मृतः ।
तस्मात्प्राणभृतः सर्वान्न हिंस्याद्ब्राह्मणः क्वचित् ॥ १२ ॥

अहिंसा ही सब जीवोंका परम धर्म माना गया है, अतएव ब्राह्मण सब प्राणियोंमें किसी जीवकी हिंसा न करे ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः सौम्य एवेह जायतेति परा श्रुतिः ।
वेदवेदाङ्गवित्तात सर्वभूताभयप्रदः ॥ १३ ॥

हे तात ! पहलेकी यह श्रुति है कि ब्राह्मण शान्तचित्त, वेद-वेदांगविद् और सर्वभूतोंका अभयदाता होकर ही उत्पन्न होता है ॥ १३ ॥

अहिंसा सत्यवचनं क्षमा चेति विनिश्चितम् ।
ब्राह्मणस्य परो धर्मो वेदानां धारणादपि ॥ १४ ॥

अहिंसा, सत्यवचन, क्षमा ये वेदाभ्यासकी अपेक्षा भी ब्राह्मणके परम धर्म माने गए हैं ॥ १४ ॥

क्षत्रियस्य तु यो धर्मः स नेहेष्यति वै तव ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥ १५ ॥

दण्डधारण, उग्रता और प्रजापालन रूपी जो क्षत्रियके धर्म हैं, वह आपके लिये मंगलदायी नहीं हैं ॥ १५ ॥

तदिदं क्षत्रियस्यासीत्कर्म वै शृणु मे रुरो ।
जनमेजयस्य धर्मात्मन्सर्पाणां हिंसनं पुरा ॥ १६ ॥
परित्राणं च भीतानां सर्पाणां ब्राह्मणादपि ।
तपोवीर्यबलोपेताद्वेदवेदाङ्गपारगात् ।
आस्तीकाद्द्विजमुख्याद्वै सर्पसत्रे द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥ (७९३)

यह क्षत्रिय ही के कार्य हैं, हे द्विजोत्तम रुरो ! तुम मुझसे सुनो । हे धर्मात्मा ! पूर्वकालमें राजा जनमेजयका सर्पयज्ञमें सर्पोंकी हिंसा करना, पर तपोवीर्य और बलसे युक्त, वेद-वेदांगविद्, द्विजश्रेष्ठ आस्तीक मुनिके द्वारा उस सर्पयज्ञमें भयार्त सर्पोंकी रक्षा आदि सब वृत्तान्त सुनो ॥ १६-१७ ॥

महाभारतके आदिपर्वमें ग्यारहवां अध्याय समाप्त ॥ ७९३ ॥

: १२ :

रुरुरुवाच

कथं हिंसितवान्सर्पान्क्षत्रियो जनमेजयः ।
सर्पा वा हिंसितास्तात किमर्थं द्विजसत्तम ॥ १ ॥

रुरु बोला-- " हे द्विजश्रेष्ठ तात ! राजा जनमेजयने किस प्रकार सर्पोंको मारा और उसने किस कारण सर्पोंको नष्ट किया था ? ॥ १ ॥

किमर्थं मोक्षिताश्चैव पन्नगास्तेन शंस मे ।
आस्तीकेन तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छाम्यशेषतः ॥ २ ॥

उस आस्तीक मुनिने फिर किस हेतु उनको उस हिंसासे मुक्त किया ? मैं वह सब सुनना चाहता हूं।" अतः मुझसे कहो ॥ २ ॥

ऋषिरुवाच

श्रोष्यसि त्वं रुरो सर्वमास्तीकचरितं महत् ।
ब्राह्मणानां कथयतामित्युक्त्वान्तरधीयत ॥ ३ ॥

ऋषिवर बोले- " हे रुरो ! तुम ब्राह्मणोंके द्वारा कहे जाते हुए आस्तीकका बहुत बडा चरित्र सुनोगे ।" यह कह कर वह ऋषि गायब हो गए ॥ ३ ॥

सूत उवाच

रुरुश्चापि वनं सर्वं पर्यधावत्समन्ततः ।
तमृषिं द्रष्टुमन्विच्छन्संश्रान्तो न्यपतद्भुवि ॥ ४ ॥

सूत बोले- रुरु उस ऋषिको देखनेकी इच्छासे उस वनमें चारों ओर दौडने लगा, अन्तमें थक कर धरती पर गिर गया ॥ ४ ॥

लब्धसंज्ञो रुरुश्चायात्तच्चाचख्यौ पितुस्तदा ।
पिता चास्य तदाख्यानं पृष्टः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तं पौलोमपर्व ॥ (७९८)

बादमें उन्होंने चेतना पाकर पिताके समीप आ करके सम्पूर्ण वृत्तांत कहा और पूछे जानेपर उसके पिताने भी सब कथा प्रारम्भसे अन्ततक संपूर्ण कह सुनाई ॥ ५ ॥

॥ महाभारत आदिपर्वमें बारहवां अध्याय और पौलोमपर्व समाप्त ॥ (७९८)

: १३ :

शौनक उवाच

किमर्थं राजशार्दूलः स राजा जनमेजयः ।
सर्पसत्रेण सर्पाणां गतोऽन्तं तद्वदस्व मे ॥ १ ॥

शौनक बोले– " हे सूत ! भूपालोंमें सिंहरूपी उस राजा जनमेजयने किस हेतु सर्पयज्ञका अनुष्ठान कर सर्पोंको नष्ट किया था; मुझे बताओ ॥ १ ॥

आस्तीकश्च द्विजश्रेष्ठः किमर्थं जपतां वरः ।
मोक्षयामास भुजगान्दीप्तात्तस्माद्धुताशनात् ॥ २ ॥

और जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ द्विजश्रेष्ठ तपस्वी आस्तीक मुनिने किस कारणसे उस प्रज्ज्वलित अग्निसे सर्पोंकी रक्षा की यह भी बताओ ॥ २ ॥

कस्य पुत्रः स राजासीत्सर्पसत्रं य आहरत् ।
स च द्विजातिप्रवरः कस्य पुत्रो वदस्व मे ॥ ३ ॥

जिस राजाने सर्पयज्ञका अनुष्ठान किया था, वह किसका पुत्र था ? और वह द्विजवर आस्तीक किसका पुत्र था ? यह मुझे बताओ " ॥ ३ ॥

सूत उवाच

महदाख्यानमास्तीकं यत्रैतत्प्रोच्यते द्विज ।
सर्वमेतदशेषेण शृणु मे वदतां वर ॥ ४ ॥

सूत बोले– " हे द्विज और ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ, मैं अति बृहत् आस्तीक-वृत्तान्तको, जो मुनियों द्वारा कहा जाता है, संपूर्ण कहता हूं, सुनो । " ॥ ४ ॥

शौनक उवाच

श्रोतुमिच्छाम्यशेषेण कथामेतां मनोरमाम् ।
आस्तीकस्य पुराणस्य ब्राह्मणस्य यशस्विनः ॥ ५ ॥

शौनक बोले– " पुरातन और यशस्वी ब्राह्मण आस्तीककी यह मनोहरणी कथा विस्तृत रूपसे सुनना चाहता हूं " ॥ ५ ॥

सूत उवाच

इतिहासमिमं वृद्धाः पुराणं परिचक्षते ।
कृष्णद्वैपायनप्रोक्तं नैमिषारण्यवासिनः ॥ ६ ॥

सूत बोले– " हे नैमिषारण्यमें रहनेवालो ! कृष्ण द्वैपायन द्वारा कहे गए इस इतिहासको ब्राह्मण गण पुराण कहते हैं । " ॥ ६ ॥

पूर्वं प्रचोदितः सूतः पिता मे लोमहर्षणः।
शिष्यो व्यासस्य मेधावी ब्राह्मणैरिदमुक्तवान् ॥ ७ ॥

पहिले व्यासदेवके शिष्य बुद्धिमान सूतकुलोद्भव मेरे पिता लोमहर्षणने ब्राह्मणोंसे पूछे जाकर यह उपाख्यान कह सुनाया था ॥ ७ ॥

तस्मादहमुपश्रुत्य प्रवक्ष्यामि यथातथम्।
इदमास्तीकमाख्यानं तुभ्यं शौनक पृच्छते ॥ ८ ॥

मैं उनके मुखसे सुन कर हे शौनक! यह आस्तीक कथा मैं पूछनेवाले तुम्हें यथार्थरूपसे कहूंगा ॥ ८ ॥

आस्तीकस्य पिता ह्यासीत्प्रजापतिसमः प्रभुः।
ब्रह्मचारी यताहारस्तपस्युग्रे रतः सदा ॥ ९ ॥

आस्तीकके पिता ब्रह्माके समान प्रभावी, ब्रह्मचारी, नियमित भोजी, महातपस्वी, सदा कठोर तपमें नियुक्त थे, ॥ ९ ॥

जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महानृषिः।
यायावराणां धर्मज्ञः प्रवरः संशितव्रतः ॥ १० ॥

वे ऊर्ध्वरेता, यायावरवंशतिलक, धर्मज्ञ, व्रतशील जरत्कारुके नामसे प्रसिद्ध महान ऋषि थे ॥ १० ॥

अटमानः कदाचित्स स्वान्ददर्श पितामहान्।
लम्बमानान्महागर्ते पादैरूर्ध्वैरधोमुखान् ॥ ११ ॥

एक दिन भ्रमण करते हुए उसने एक बडे गड्ढेमें पैर ऊपर और मुंह नीचेकी ओर करके लटके हुए अपने पितामहोंको देखा ॥ ११ ॥

तानब्रवीत्स दृष्ट्वैव जरत्कारुः पितामहान्।
के भवन्तोऽवलम्बन्ते गर्तेऽस्मिन्वा अधोमुखाः ॥ १२ ॥

जरत्कारुने यह देखकर उन पितामहोंसे पूछा– "तुम कौन हो? और किस हेतु इस गड्ढेमें औंधे मुंह लटक रहे हो ॥ १२ ॥

वीरणस्तम्बके लग्नाः सर्वतः परिभक्षिते।
मूषकेन निगूढेन गर्तेऽस्मिन्नित्यवासिना ॥ १३ ॥

इस गड्ढेमें सदा छिप कर रहनेवाले चूहेके द्वारा चारों ओरसे काटे हुए खसखसके गुच्छेमें लटके हुए हो" ॥ १३ ॥

पितर ऊचुः

यायावरा नाम वयमृषयः संशितव्रताः।
संतानप्रक्षयाद्ब्रह्मन्नधो गच्छाम मेदिनीम् ॥ १४ ॥

पितरोंने कहा– "हम यायावर नामक व्रतशील ऋषि हैं। हे ब्रह्मन्! वंशके लोप हो जानेसे हम अधोभूमिको जा रहे हैं" ॥ १४ ॥

अस्माकं संततिस्त्वेको जरत्कारुरिति श्रुतः ।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एव समास्थितः ॥ १५ ॥

पर हम बुरे भाग्यवालोंकी जरत्कारु नामक एक दुर्भाग्यशाली सन्तान है। वह केवल तपमें ही रमा करता है ॥ १५ ॥

न स पुत्राञ्जनयितुं दारान्मूढश्चिकीर्षति ।
तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानप्रक्षयादिह ॥ १६ ॥

पुत्रोत्पादनके निमित्त वह मूर्ख विवाह भी करना नहीं चाहता । अत एव वंशलोप होनेके कारण हम इस गड्ढेमें लटके हुए हैं ॥ १६ ॥

अनाथास्तेन नाथेन यथा दुष्कृतिनस्तथा ।
कस्त्वं बन्धुरिवास्माकमनुशोचसि सत्तम ॥ १७ ॥

हम लोग उसके कारण सनाथ रहने पर भी पापिष्ठोंके समान अनाथसे हो गए हैं । साधु शिरोमणि ! तुम कौन हो, कि हमारे मित्रके सदृश हमारे लिए चिन्ता करते हो ॥ १७ ॥

ज्ञातुमिच्छामहे ब्रह्मन्को भवानिह धिष्ठितः ।
किमर्थं चैव नः शोच्याननुकम्पितुमर्हसि ॥ १८ ॥

हे ब्रह्मन् ! हम जानना चाहते हैं, कि तुम कौन हो और किस हेतु हमारी शोचनीय दशा देखकरके यहां खडे होकर शोक प्रकाश कर रहे हो ? " ॥ १८ ॥

जरत्कारुरुवाच

मम पूर्वे भवन्तो वै पितरः सपितामहाः ।
ब्रूत किं करवाण्यद्य जरत्कारुरहं स्वयम् ॥ १९ ॥

जरत्कारु बोला– " मैं ही स्वयं जरत्कारु हूं, आप लोग मेरे ही पितृपितामहादि पूर्व पुरुष हैं; अब आज्ञा कीजिये, कि मैं क्या करूं " ॥ १९ ॥

पितर ऊचुः

यतस्व यत्नवांस्तात संतानाय कुलस्य नः ।
आत्मनोऽर्थेऽस्मदर्थे च धर्म इत्येव चाभिभो ॥ २० ॥

पितृगण बोले " बेटा ! तुम हमको, अपनेको और धर्मको बचानेके निमित्त सचेष्ट हो करके हमारे वंशको बढानेके लिए यत्न करो ॥ २० ॥

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभिः सुसंचितैः ।
तां गतिं प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति ह ॥ २१ ॥

हे तात ! पुत्रवान् पुरुष जैसी सद्गति प्राप्त करते हैं वैसी सद्गति बहुदिनोंके बटोरे हुए तप अथवा दूसरे पुण्यफलसे भी लोग प्राप्त नहीं करते ॥ २१ ॥

तद्दारग्रहणे यत्नं संतत्यां च मनः कुरु।
पुत्रकास्मन्नियोगात्त्वमेतन्नः परमं हितम् ॥ २२ ॥

हे पुत्र! इस हेतु तुम हमारी आज्ञासे स्त्रीग्रहण और सन्तानोत्पादनमें चित्त लगाओ, इससे हमारा परम कल्याण होगा" ॥ २२ ॥

जरत्कारुरुवाच

न दारान्वै करिष्यामि सदा मे भावितं मनः।
भवतां तु हितार्थाय करिष्ये दारसंग्रहम् ॥ २३ ॥

जरत्कारु बोले– "मैंने मनमें संकल्प कर लिया था कि मैं स्त्रीग्रहण नहीं करूंगा, पर अब आपके हितानुष्ठानके लिये विवाह करूंगा ॥ २३ ॥

समयेन च कर्ताहमनेन विधिपूर्वकम्।
तथा यद्युपलप्स्यामि करिष्ये नान्यथा त्वहम् ॥ २४ ॥

पर मैं एक शर्तपर विधिपूर्वक विवाह करूंगा, यदि उस शर्तके अनुसार कन्या मिलेगी तो विवाह करूंगा, अन्यथा नहीं ॥ २४ ॥

सनाम्नी या भवित्री मे दित्सिता चैव बन्धुभिः।
भैक्ष्यवत्तामहं कन्यामुपयंस्ये विधानतः ॥ २५ ॥

कन्या यदि मेरे नामकी हो और उसके बंधुवर्ग उसे स्वेच्छापूर्वक दान करें, तो उस कन्याको भिक्षाके समान ग्रहण कर विधिपूर्वक उससे विवाह करूंगा ॥ २५ ॥

दरिद्राय हि मे भार्यां को दास्यति विशेषतः।
प्रतिग्रहीष्ये भिक्षां तु यदि कश्चित्प्रदास्यति ॥ २६ ॥

विशेष बात तो यह है कि मैं दरिद्र हूं, कौन मुझे कन्यादान करेगा? परंतु यदि कोई दान करेगा, तो मैं अवश्य ही उस भिक्षाको ग्रहण करूंगा ॥ २६ ॥

एवं दारक्रियाहेतोः प्रयतिष्ये पितामहाः।
अनेन विधिना शश्वन्न करिष्येऽहमन्यथा ॥ २७ ॥

इस प्रकार हे पितामहो! इसी विधिसे विवाहके लिए मैं सदा प्रयत्न करता रहूंगा, अन्यथा मैं विवाह ही नहीं करूंगा ॥ २७ ॥

तत्र चोत्पत्स्यते जन्तुर्भवतां तारणाय वै।
शाश्वतं स्थानमासाद्य मोदन्तां पितरो मम ॥ २८ ॥

उससे आपके उद्धारके लिये पुत्र उत्पन्न होगा। जिससे मेरे पितर गण आप लोग भी शाश्वत-स्वर्ग प्राप्त कर परम आनन्दसे समय वितावें" ॥ २८ ॥

सूत उवाच

ततो निवेशाय तदा स विप्रः संशितव्रतः।
महीं चचार दारार्थी न च दारानविन्दत ॥ २९ ॥

सूत बोले– कि अनन्तर वह ब्रह्मचारी व्रतशील जरत्कारु, संसार–आश्रममें प्रवेश करनेके लिए स्त्री पानेके अभिलाषी होकर सारी भूमि घूम आये, पर उन्होंने कहीं भी योग्य पत्नी प्राप्त नहीं की ॥ २९ ॥

स कदाचिद्वनं गत्वा विप्रः पितृवचः स्मरन्।
चुक्रोश कन्याभिक्षार्थी तिस्रो वाचः शनैरिव ॥ ३० ॥

एक समय उन्होंने कन्याकी भिक्षा पानेकी इच्छासे वनमें प्रवेश करके पितृवाक्यका स्मरण करके धीरेसे चिल्लाकर तीन बार बातें कहीं ॥ ३० ॥

तं वासुकिः प्रत्यगृह्णादुद्यम्य भगिनीं तदा।
न स तां प्रतिजग्राह न सनाम्नीति चिन्तयन् ॥ ३१ ॥

उस समय उनकी आवाज सुनकर नागराज वासुकि उनको अपनी भगिनी दान करनेको उद्यत हुए। पर उस कन्याको अपने नामकी नहीं है यह सोच कर महात्मा जरत्कारुने तत्काल ग्रहण नहीं किया ॥ ३१ ॥

सनाम्नीमुद्यतां भार्यां गृह्णीयामिति तस्य हि।
मनो निविष्टमभवज्जरत्कारोर्महात्मनः ॥ ३२ ॥

महात्मा जरत्कारुका मन इस बात पर स्थिर हो गया था कि मैं अपने नामवाली तथा स्वयं दी गई स्त्रीके साथ ही विवाह करूंगा ॥ ३२ ॥

तमुवाच महाप्राज्ञो जरत्कारुर्महातपाः।
किंनाम्नी भगिनीयं ते ब्रूहि सत्यं भुजङ्गम ॥ ३३ ॥

यह सोच कर वह महाप्राज्ञ महातपस्वी जरत्कारु उस वासुकिसे बोले, "हे भुजंग! सच बोलो तुम्हारी इस बहिनका क्या नाम है?" ॥ ३३ ॥

वासुकिरुवाच

जरत्कारो जरत्कारुः स्वसेयमनुजा मम।
त्वदर्थं रक्षिता पूर्वं प्रतीच्छेमां द्विजोत्तम ॥ ३४ ॥

वासुकि बोले– "हे जरत्कारो! मेरी इस छोटी बहिनका नाम जरत्कारु है, हे द्विजोत्तम! मैंने इस भगिनीको तुम्हारे निमित्त रख छोडा है, अतः इसे स्वीकार करो" ॥ ३४ ॥

सूत उवाच

मात्रा हि भुजगाः शप्ताः पूर्वं ब्रह्मविदां वर ।
जनमेजयस्य वो यज्ञे धक्ष्यत्यनिलसारथिः ॥ ३५ ॥

सूत बोले– हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ शौनक ! पहिले सर्पमाताने सर्पोंको यह शाप दिया था कि जनमेजयके यज्ञमें वायुकी सहायतासे अग्नि तुमको जला डालेगी ॥ ३५ ॥

तस्य शापस्य शान्त्यर्थं प्रददौ पन्नगोत्तमः ।
स्वसारमृषये तस्मै सुव्रताय तपस्विने ॥ ३६ ॥

नागोंमें उत्तम वासुकिने उस शापको शान्त करनेके निमित्त व्रतशील और तपस्वी उस जरत्कारु ऋषिको अपनी बहिन दी ॥ ३६ ॥

स च तां प्रतिजग्राह विधिदृष्टेन कर्मणा ।
आस्तीको नाम पुत्रश्च तस्यां जज्ञे महात्मनः ॥ ३७ ॥

जरत्कारुने भी विधि द्वारा निश्चित किए गए कर्मके अनुसार उससे विवाह किया । उस कन्याके गर्भसे उस महात्मासे आस्तीक नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ३७ ॥

तपस्वी च महात्मा च वेदवेदांगपारगः ।
समः सर्वस्य लोकस्य पितृमातृभयापहः ॥ ३८ ॥

वह आस्तीक वेदवेदांगमें पण्डित, तपस्वी, महात्मा, सब भूतोंको समान दृष्टिसे देखनेवाला और पिता तथा माताके कुलोंके भयको नष्ट करनेवाला हुआ ॥ ३८ ॥

अथ कालस्य महतः पाण्डवेयो नराधिपः ।
आजहार महायज्ञं सर्पसत्रमिति श्रुतिः ॥ ३९ ॥

अनन्तर बहुत कालके पश्चात्, पाण्डवनन्दन नरेश जनमेजयने सर्पयज्ञ नामक एक महायज्ञका प्रारंभ किया, ऐसा सुना जाता है ॥ ३९ ॥

तस्मिन्प्रवृत्ते सत्रे तु सर्पाणामन्तकाय वै ।
मोचयामास तं शापमास्तीकः सुमहायशाः ॥ ४० ॥

सर्पकुलके नाश करनेके निमित्त उस यज्ञके आरंभ होने पर महायशस्वी आस्तीकने उस शापको छुडाया ॥ ४० ॥

नागांश्च मातुलांश्चैव तथा चान्यान्स बान्धवान् ।
पितॄंश्च तारयामास संतत्या तपसा तथा ।
व्रतैश्च विविधैर्ब्रह्मन्स्वाध्यायैश्चाऽनृणोऽभवत् ॥ ४१ ॥

उसने नागों अपने मामाओं और दूसरे भाइयों तथा पितरोंका सन्तानोंके द्वारा तथा तपस्यासे उद्धार किया और हे ब्रह्मन् ! वह अनेक व्रतों और स्वाध्यायोंसे उऋण हो गया ॥ ४१ ॥

देवांश्च तर्पयामास यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
ऋषींश्च ब्रह्मचर्येण संतत्या च पितामहान् ॥ ४२ ॥

एवं भांतिभांतिके दक्षिणायुक्त यागोंसे देवताओंको उसने तृप्त किया और ब्रह्मचर्यसे ऋषि-योंको तथा संततिसे अपने पितामहोंको तृप्त किया ॥ ४२ ॥

अपहृत्य गुरुं भारं पितॄणां संशितव्रतः ।
जरत्कारुर्गतः स्वर्गं सहितः स्वैः पितामहैः ॥ ४३ ॥

व्रतका बडी कठोरतासे पालन करनेवाला जरत्कारु इस प्रकारसे पितरोंके कठिनभारको उतार कर अपने पितामहोंके साथ स्वर्ग गए ॥ ४३ ॥

आस्तीकं च सुतं प्राप्य धर्मं चानुत्तमं मुनिः ।
जरत्कारुः सुमहता कालेन स्वर्गमीयिवान् ॥ ४४ ॥

और आस्तीक नामक पुत्र तथा अत्यन्त श्रेष्ठ धर्म पा करके बहुत समयके बाद उस मुनि जरत्कारुने स्वर्ग प्राप्त किया ॥ ४४ ॥

एतदाख्यानमास्तीकं यथावत्कीर्तितं मया ।
प्रब्रूहि भृगुशार्दूल किं भूयः कथ्यतामिति ॥ ४५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥ (८४३)

यह आस्तीकका आख्यान मैंने ठीक ठीक कह दिया; हे भृगुवंशियोंमें सिंह सदृश शौनक ! अब आज्ञा कीजिये, कि फिर क्या कहूं ॥ ४५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें तेरहवां अध्याय समाप्त ॥ ८४३ ॥

: १४ :

शौनक उवाच

मौते कथय तामेतां विस्तरेण कथां पुनः ।
आस्तीकस्य कवेः साधोः शुश्रूषा परमा हि नः ॥ १ ॥

शौनक बोले– " हे सूतनन्दन ! साधु स्वभाववाले ज्ञानी आस्तीक ऋषिकी इस कथाको फिर विस्तृत रूपसे कहो; उसे सुननेकी हमारी बडी इच्छा है ॥ १ ॥

मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं त्वया ।
प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषसे ॥ २ ॥

विशेष करके तुम जो कुछ कहते हो, वह बडी मीठी और सुन्दर अक्षरोंवाली होती है । तुम अपने पिताके समान ही कहते हो, उससे हे तात ! हम लोग बडी प्रसन्नता पा रहे हैं ॥ २ ॥

अस्मच्छुश्रूषणे नित्यं पिता हि निरतस्तव ।
आचष्टैतद्यथाख्यानं पिता ते त्वं तथा वद ॥ ३ ॥

तुम्हारे पिता हमारी सेवामें सदा लगे रहते थे। तुम्हारे पिताने इस कथाको जिसप्रकार कहा था, उसी प्रकार तुम भी कहो ॥ ३ ॥

सूत उवाच

आयुष्यमिदमाख्यानमास्तीकं कथयामि ते ।
यथा श्रुतं कथयतः सकाशाद्वै पितुर्मया ॥ ४ ॥

सूत बोले– कि मैंने दीर्घायु प्रदान करनेवाली यह आस्तीककी कथा कहते हुए पितासे जैसे सुनी, ठीक वैसे ही तुमसे कहता हूं ॥ ४ ॥

पुरा देवयुगे ब्रह्मन्प्रजापतिसुते शुभे ।
आस्तां भगिन्यौ रूपेण समुपेतेऽद्भुतेऽनघे ॥ ५ ॥

हे ब्रह्मन् ! पहिले सत्ययुगमें प्रजापतिकी दो पुत्रियां थीं वे दोनों बहिनें आश्चर्य रूपवती, सुन्दर लक्षणोंसे युक्त तथा सर्वथा दोषरहित थीं ॥ ५ ॥

ते भार्ये कश्यपस्यास्तां कद्रूश्च विनता च ह ।
प्रादात्ताभ्यां वरं प्रीतः प्रजापतिसमः पतिः ।
कश्यपो धर्मपत्नीभ्यां मुदा परमया युतः ॥ ६ ॥

वे कद्रू और विनता कश्यप मुनिकी स्त्री थीं। प्रसन्न मनवाले उस प्रजापति सदृश पति कश्यपने उन दोनों धर्मपत्नियोंपर अति प्रसन्न होकर उनको वर दिया ॥ ६ ॥

वरातिसर्गं श्रुत्वैव कश्यपादुत्तमं च ते ।
हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ ॥ ७ ॥

उनकी श्रेष्ठ स्त्रियोंने भी कश्यपसे अभीष्ट वर पानेकी बात सुनकर हर्षसे अति प्रसन्नता प्राप्त की ॥ ७ ॥

वव्रे कद्रूः सुतान्नागान्सहस्रं तुल्यतेजसः ।
द्वौ पुत्रौ विनता वव्रे कद्रुपुत्राधिकौ बले ।
ओजसा तेजसा चैव विक्रमेणाधिकौ सुतौ ॥ ८ ॥

पहिले कद्रूने समान तेजवाले हजार नाग पुत्ररूपमें मांगे। विनताने बल, ओज, तेज तथा पराक्रममें कद्रूके पुत्रोंसे श्रेष्ठ केवल दोही पुत्र मांगे ॥ ८ ॥

तस्यै भर्ता वरं प्रादादध्यर्धं पुत्रमीप्सितम् ।
एवमस्त्विति तं चाह कश्यपं विनता तदा ॥ ९ ॥

विनताको उसके पतिने दो पुत्रोंके होनेका अभिलषित वर दे दिया, तो विनताने कश्यपसे "एवमस्तु" कहा ॥ ९ ॥

कृतकृत्या तु विनता लब्ध्वा वीर्याधिकौ सुतौ ।
कद्रूश्च लब्ध्वा पुत्राणां सहस्रं तुल्यतेजसाम् ॥ १० ॥

बडे पराक्रमशाली दो पुत्रोंको पाकर विनता कृतकृत्य हो गई । कद्रूने भी समान तेजस्वी एक हजार पुत्रोंकी प्राप्तिका वर पाकर अपनेको कृतार्थ समझा ॥ १० ॥

धार्यौ प्रयत्नतो गर्भावित्युक्त्वा स महातपाः ।
ते भार्ये वरसंहृष्टे कश्यपो वनमाविशत् ॥ ११ ॥

बादमें वर पानेसे सन्तुष्ट हुई हुई उन दोनों पत्नियोंको यह कर कि "तुम अति यत्नसे गर्भ धारण किये रहना " वह महातपस्वी कश्यप वनको चले गए ॥ ११ ॥

कालेन महता कद्रूरण्डानां दशतीर्दश ।
जनयामास विप्रेन्द्र द्वे अण्डे विनता तदा ॥ १२ ॥

हे विप्रश्रेष्ठ ! बहुत समयके पश्चात् कद्रूने दस सौ अर्थात् एक हजार अण्डे पैदा किए और विनताने दो अण्डे उत्पन्न किये ॥ १२ ॥

तयोरण्डानि निदधुः प्रहृष्टाः परिचारकाः ।
सोपस्वेदेषु भाण्डेषु पञ्च वर्षशतानि च ॥ १३ ॥

तब सेविकाओंने प्रफुल्ल हृदयसे उन दोनोंके अण्डोंको गर्म बर्तनोंमें पांच सौ वर्षोंतक रखा ॥ १३ ॥

ततः पञ्चशते काले कद्रूपुत्रा विनिःसृताः ।
अण्डाभ्यां विनतायास्तु मिथुनं न व्यदृश्यत ॥ १४ ॥

तब पांच सौवें वर्ष कद्रूके अण्डोंसे एक हजार पुत्र उत्पन्न हुए, परन्तु विनताके अण्डेसे दो जुडवें नहीं दिखाई दिए ॥ १४ ॥

ततः पुत्रार्थिनी देवी व्रीडिता च तपस्विनी ।
अण्डं बिभेद विनता तत्र पुत्रमदृक्षत ॥ १५ ॥

इससे पुत्रकी इच्छा करनेवाली तपस्विनी देवी विनताने लज्जित होकर एक अण्डेको तोड दिया और उसमें पुत्र देखा ॥ १५ ॥

पूर्वार्धकायसंपन्नमितरेणाप्रकाशता ।
स पुत्रो रोषसंपन्नः शशापैनामिति श्रुतिः ॥ १६ ॥

उस पुत्रका पूर्वार्ध शरीरमात्र उत्पन्न हुआ था, शेषार्ध अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ था। सुना जाता है, कि उस पुत्रने क्रोधित होकर इस विनताको यह शाप दिया ॥ १६ ॥

योऽहमेवं कृतो मातस्त्वया लोभपरीतया।
शरीरेणासमग्रोऽद्य तस्माद्दासी भविष्यसि ॥ १७॥

कि हे माता ! तुम्हारे द्वारा पुत्र देखनेके लोभसे आज जो मैं इस प्रकार शरीरसे आधा बना दिया गया हूं, अतः तुम दासी होओगी ॥ १७॥

पञ्च वर्षशतान्यस्या यया विस्पर्धसे सह।
एष च त्वां सुतो मातर्दास्यत्वान्मोक्षयिष्यति ॥ १८॥

इस प्रकार तुम जिससे स्पर्धा कर रही हो, उसीकी तुम पांच सौ वर्षतक दासी रहोगी, और हे माता ! यह पुत्र तुम्हें दासीपनसे छुडाएगा ॥ १८॥

यद्येनमपि मातस्त्वं मामिवाण्डविभेदनात्।
न करिष्यस्यदेहं वा व्यङ्गं वापि तपस्विनम् ॥ १९॥

माता ! यदि तुम इस दूसरे अण्डेको भी फोड कर उस तपस्वी पुत्रको भी मेरी तरह देह-हीन या विकलांग न करो, तो वह होनेवाला पुत्र तुमको दासीपनसे मुक्त करेगा ॥१९॥

प्रतिपालयितव्यस्ते जन्मकालोऽस्य धीरया।
विशिष्टबलमीप्सन्त्या पञ्चवर्षशतात्परः ॥ २०॥

हे माता ! विशेप बलशाली पुत्र चाहनेवाली तुम्हें धैर्यके साथ पांच सौ वर्षोंतक उसके जन्मके समयकी प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ २०॥

एवं शप्त्वा ततः पुत्रो विनतामन्तरिक्षगः।
अरुणो दृश्यते ब्रह्मन्प्रभातसमये सदा ॥ २१॥

तब विनताको इस प्रकार शाप देकर वह पुत्र आकाशमें उड गया और हे ब्रह्मन् ! सदा प्रातःकालमें वह अरुणके रूपमें दिखाई देता है ॥ २१॥

गरुडोऽपि यथाकालं जज्ञे पन्नगसूदनः।
स जातमात्रो विनतां परित्यज्य खमाविशत् ॥ २२॥
आदास्यन्नात्मनो भोज्यमन्नं विहितमस्य यत्।
विधात्रा भृगुशार्दूल क्षुधितस्य बुभुक्षतः ॥ २३॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥ (८६६)

इसके बाद यथा समय नागोंका विनाशक गरुड उत्पन्न हुआ। और उत्पन्न होते ही वह गरुड, हे भृगुओंमें सिंह सदृश शौनक ! विनताको छोडकर तथा इस भूखे गरुडके खानेके लिए जो अन्न विधाताने निश्चित कर दिया था, उस खाने योग्य अन्नको खाकर आकाशमें उड गया ॥ २२-२३॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें चौदहवां अध्याय समाप्त ॥ (८६६)

: १५ :

सूत उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भगिन्यौ ते तपोधन ।
अपश्यतां समायान्तमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि हे तपोधन ! उस कालमें एक दिन कद्रू और विनता दोनों बहिनोंने पासमें आए हुए उच्चैःश्रवा घोडेको देखा ॥ १ ॥

यं तं देवगणाः सर्वे हृष्टरूपा अपूजयन् ।
मथ्यमानेऽमृते जातमश्वरत्नमनुत्तमम् ॥ २ ॥
महौघबलमश्वानामुत्तमं जवतां वरम् ।
श्रीमन्तमजरं दिव्यं सर्वलक्षणलक्षितम् ॥ ३ ॥

सब सुन्दर रूपवाले देवोंने उस अमृतको मथनेके समय उत्पन्न हुए, अत्यन्त बलशाली, वेगवालोंमें सर्वश्रेष्ठ, सब उत्तम लक्षणोंसे युक्त, दिव्य, लक्ष्मीवान्, अजर, सब अश्वोंमें उत्तम ऐसे अद्वितीय अश्वरत्न इस उच्चैःश्रवाकी पूजा की ॥ २–३ ॥

शौनक उवाच

कथं तदमृतं देवैर्मथितं क्व च शंस मे ।
यत्र जज्ञे महावीर्यः सोऽश्वराजो महाद्युतिः ॥ ४ ॥

शौनक बोले– हे सूत ! देवताओंने कहां और कैसे समुद्रका मंथन किया था, जिससे वह महावीर्यवान् और अति तेजस्वी अश्वराज उच्चैःश्रवा उत्पन्न हुआ, यह हमसे कहो ॥ ४ ॥

सूत उवाच

ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः ॥ ५ ॥
काञ्चनाभरणं चित्रं देवगन्धर्वसेवितम् ।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः ॥ ६ ॥

सूत बोले-- अपने तेजसे जलते हुए, अत्यन्त श्रेष्ठ तेजके समूह, सोनेके समान कान्तिवाली अपनी चोटियोंसे सूर्यके तेजको भी फीका करनेवाले, सोनेके आभूषणोंसे बहुत सुहावने अर्थात् सोनेकी कांतिको धारण करनेके कारण अति सुन्दर, देव और गन्धर्व जिस पर रहते हैं ऐसे अद्वितीय, और अधर्मका आचरण करनेवालोंके द्वारा न जीते जाने योग्य ॥ ५–६ ॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
नाकमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रयेण महागिरिम् ॥ ७ ॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानापतगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः ॥ ८ ॥

भयंकरसे भयंकर सांप जिस पर घूमते हैं ऐसे, अनेक अलौकिक औषधियोंसे प्रकाशित, अपनी ऊंचाईसे स्वर्गको भी घेर कर खडे रहनेवाले, अत्यधिक उन्नत, दूसरोंके द्वारा मनसे भी न जाने जा सकने योग्य, नदियों और वृक्षोंसे युक्त, अनेक तरहके मनको हरनेवाले सुन्दर सुन्दर पक्षियोंके समूहोंके कलरवसे शब्दायमान ॥ ७–८ ॥

तस्य पृष्ठमुपारुह्य बहुरत्नाचितं शुभम्।
अनन्तकल्पमुद्विद्धं सुराः सर्वे महौजसः ॥ ९ ॥

अनन्तकल्प अर्थात् आकाशके समान उद्विद्ध अर्थात् ऊंचे, अनेक रत्नोंसे सुशोभित, अत्यंत कल्याणकारक ऐसे मेरु पर्वतकी पीठ पर सभी महा तेजस्वी देव चढ गए ॥ ९ ॥

ते मन्त्रयितुमारब्धास्तत्रासीना दिवौकसः।
अमृतार्थे समागम्य तपोनियमसंस्थिताः ॥ १० ॥

तप और नियमोंमें रहनेवाले, स्वर्गके घरोंमें निवास करनेवाले अत्यन्त तेजस्वी वे सभी देवगण अमृतको प्राप्त करनेके लिए इकट्ठे होकर उस मेरु पर्वत पर बैठकर आपसमें विचार करने लगे ॥ १० ॥

तत्र नारायणो देवो ब्रह्माणमिदमब्रवीत्।
चिन्तयत्सु सुरेष्वेवं मन्त्रयत्सु च सर्वशः ॥ ११ ॥

इस तरह हर प्रकारसे विचार करनेवाले देवतागणोंके चिन्तायुक्त होने पर वहां भगवान् विष्णुने ब्रह्मासे यह बात कही, ॥ ११ ॥

देवैरसुरसङ्घैश्च मथ्यतां कलशोदधिः।
भविष्यत्यमृतं तत्र मथ्यमाने महोदधौ ॥ १२ ॥

सुर और असुरलोग मिलकर महासागरको कलसेके समान करके मथन करें, इस प्रकार उस महासमुद्रको मथनेसे अवश्य ही अमृत निकलेगा ॥ १२ ॥

सर्वौषधीः समावाप्य सर्वरत्नानि चैव हि।
मन्थध्वमुदधिं देवा वेत्स्यध्वममृतं ततः ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥ (८७९)

हे देवो ! सब औषधियां और सब रत्न पानेपर भी समुद्रका मंथन करते जाओ, तो अन्तमें अमृत प्राप्त करोगे ॥ १३ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें पन्द्रहवां अध्याय समाप्त ॥ ८७९ ॥

: १६ :

सूत उवाच

ततोऽभ्रशिखराकारैर्गिरिशृङ्गैरलंकृतम् ।
मन्दरं पर्वतवरं लताजालसमावृतम् ॥ १ ॥

सूत बोले– कि अनन्तर (समुद्रमंथनके लिए मंथन–दण्ड करनेके निमित्त सब देवताओंने मिलकर) श्वेत मेघकी चोटियोंके समान प्रतीत होनेवाले गगन चुम्बी बडी ऊंची ऊंची चोटियोंसे सुशोभित, लताजालसे आच्छादित, पर्वतश्रेष्ठ ॥ १ ॥

नानाविहगसंघुष्टं नानादंष्ट्रिसमाकुलम् ।
किंनरैरप्सरोभिश्च देवैरपि च सेवितम् ॥ २ ॥

विविध पक्षियोंसे युक्त, कराल सिंह आदि जन्तुओंसे व्याप्त, किन्नर, देव, अप्सराओंसे सेवित ॥ २ ॥

एकादश सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितम् ।
अधो भूमेः सहस्रेषु तावत्स्वेव प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥
तमुद्धर्तुं न शक्ता वै सर्वे देवगणास्तदा ।
विष्णुमासीनमभ्येत्य ब्रह्माणं चेदमब्रुवन् ॥ ४ ॥

ऊंचाईमें ग्यारह हजार योजन और ग्यारह हजार ही जमीनके नीचे गडे हुए ऐसे उस मन्दर पहाडको उखाडनेमें असमर्थ होकर सब देवगण तब बैठे हुए ब्रह्मा और विष्णुके समीप जाकर बोले ॥ ३–४ ॥

भवन्तावत्र कुरुतां बुद्धिं नैःश्रेयसीं पराम् ।
मन्दरोद्धरणे यत्नः क्रियतां च हिताय नः ॥ ५ ॥

आप इस विषयमें अत्यन्त कल्याणमयी बुद्धिका उपयोग .. और हमारे हित करनेके लिए मन्दर पर्वतको उखाडनेका प्रयत्न करें ॥ ५ ॥

तथेति चाब्रवीद्विष्णुर्ब्रह्मणा सह भार्गव ।
ततोऽनन्तः समुत्थाय ब्रह्मणा परिचोदितः ।
नारायणेन चाप्युक्तस्तस्मिन्कर्मणि वीर्यवान् ॥ ६ ॥

हे भृगुकुलोत्पन्न शौनक ! तब ब्रह्मदेवके साथ विष्णुने 'ठीक है' ऐसा कहा, तब ब्रह्मसे प्रेरित होकर तथा उस काममें विष्णु द्वारा कहे जानेपर महाबली अनन्त उठकर खडे हो गए ॥६॥

अथ पर्वतराजानं तमनन्तो महाबलः ।
उज्जहार बलाद्ब्रह्मन्सवनं सवनौकसम् ॥ ७ ॥

और हे ब्रह्मन् ! उस महाबलशाली अनन्तने उस पर्वतराज मन्दरको वनों और उन वनोंमें रहनेवाले वनवासियों सहित बलपूर्वक उखाड दिया ॥ ७ ॥

ततस्तेन सुराः सार्धं समुद्रमुपतस्थिरे ।
तमूचुरमृतार्थाय निर्मथिष्यामहे जलम् ॥ ८ ॥

उसके बाद देवगण उस पर्वतके साथ समुद्रतट पर उपस्थित हुए और उस समुद्रसे कहा, कि " हम अमृतके निमित्त तुम्हारे जलका मंथन करेंगे " ॥ ८ ॥

अपांपतिरथोवाच ममाप्यंशो भवेत्ततः ।
सोढास्मि विपुलं मर्दं मन्दरभ्रमणादिति ॥ ९ ॥

तब समुद्रने कहा– " तब तो उस अमृतमें मेरा भी अंश होगा, क्योंकि मुझे मन्दरपर्वतके घूमनेके कारण होनेवाली उस कठिन रगडको सहना पडेगा ॥ ९ ॥

ऊचुश्च कूर्मराजानमकूपारं सुरासुराः ।
गिरेरधिष्ठानमस्य भवान्भवितुमर्हति ॥ १० ॥

समुद्रकी इस बात पर संमत होकर वे सुरासुर लोग समुद्रस्तलमें स्थित कूर्मराजसे बोले, " हे कूर्मराज! तुम इस मन्दर पर्वतका आधार बनो " ॥ १० ॥

कूर्मेण तु तथेत्युक्त्वा पृष्ठमस्य समर्पितम् ।
तस्य शैलस्य चाग्रं वै यन्त्रेणेन्द्रोऽभ्यपीडयत् ॥ ११ ॥

कूर्मराजने " तथास्तु " कह कर पीठ पर मन्दर पर्वतको रख लिया। इन्द्र कूर्मके पीठ पर स्थित उस मन्दर पर्वतके आगेके भागको यंत्रसे घुमाने लगे ॥ ११ ॥

मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम् ।
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम् ।
अमृतार्थिनस्ततो ब्रह्मन्सहिता दैत्यदानवाः ॥ १२ ॥

हे ब्रह्मन् ! देवताओं और असुरोंने अमृत प्राप्तिके निमित्त मन्दरको मंथनदण्ड और वासुकिको डोरी बना कर जलके भंडार समुद्रको मथना आरंभ किया ॥ १२ ॥

एकमन्तमुपाश्लिष्टा नागराज्ञो महासुराः ।
विबुधाः सहिताः सर्वे यतः पुच्छं ततः स्थिताः ॥ १३ ॥

जिस ओर नागराज वासुकिका मुख था, उधर दानव और जिस ओर उसकी पूंछ थी उधर देवता लोग खडे हो गए ॥ १३ ॥

अनन्तो भगवान्देवो यतो नारायणस्ततः ।
शिर उत्क्षिप्य नागस्य पुनः पुनरवाक्षिपत् ॥ १४ ॥

भगवान् अनन्तदेव उधर ही खडे थे, जिधर नारायण खडे थे, नारायण वासुकिनागका मुख उठाकर बार बार झटकते थे ॥ १४ ॥

वासुकेरथ नागस्य सहसाक्षिप्यतः सुरैः ।
सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात् ॥ १५ ॥

तब सुरोंने नागराज वासुकिके फनको उठाकर अचानक पटक दिया, इससे उसके मुखसे धुंवे और अग्निज्वालासे युक्त श्वासवायु बार बार निकलने लगी ॥ १५ ॥

ते धूमसङ्घाः संभूता मेघसंघाः सविद्युतः ।
अभ्यवर्षन्सुरगणाञ्श्रमसंतापकर्शितान् ॥ १६ ॥

वह धुंओंके समूह बिजलीयुक्त मेघोंके समूह बनकर परिश्रमके दुःखसे क्षीण हुए हुए देवताओंपर बरसने लगे ॥ १६ ॥

तस्माच्च गिरिकूटाग्रात्प्रच्युताः पुष्पवृष्टयः ।
सुरासुरगणान्माल्यैः सर्वतः समवाकिरन् ॥ १७ ॥

और उस पहाड मन्दरपरसे गिरनेवाली फूलोंकी बरसात सुरों और असुरोंके चारों ओर फैल गई ॥ १७ ॥

बभूवात्र महाघोषो महामेघरवोपमः ।
उदधेर्मथ्यमानस्य मन्दरेण सुरासुरैः ॥ १८ ॥

देवदानवोंके द्वारा मन्दरकी सहायतासे मथे जाते हुए समुद्रसे बादलकी ध्वनिके सदृश महाशब्द उठने लगा ॥ १८ ॥

तत्र नानाजलचरा विनिष्पिष्टा महाद्रिणा ।
विलयं समुपाजग्मुः शतशो लवणाम्भसि ॥ १९ ॥

और उस खारे जलवाले समुद्रमें रहनेवाले सैकडों जलजन्तु उस महान् पर्वतसे पीसे जाकर नष्ट हो गए ॥ १९ ॥

वारुणानि च भूतानि विविधानि महीधरः ।
पातालतलवासीनि विलयं समुपानयत् ॥ २० ॥

तथा पाताललोकमें रहनेवाले, जलप्रधान देहवाले वरुणसम्बन्धी नाना प्रकारके प्राणियोंके पास वह पर्वत नाशको खींचकर ले आया अर्थात् पातालवासी प्राणी भी उस पर्वतसे नष्ट होने लगे ॥ २० ॥

तस्मिंश्च भ्राम्यमाणेऽद्रौ संघृष्यन्तः परस्परम्।
न्यपतन्पतगोपेताः पर्वताग्रान्महाद्रुमाः ॥ २१ ॥

उस पर्वत-शिखरके घूमनेपर उस पर्वतके अग्रभागमे वृक्ष आपसमें घिस घिस कर पक्षियों--समेत गिरने लगे ॥ २१ ॥

तेषां संघर्षजश्चाग्निरर्चिर्भिः प्रज्वलन्मुहुः।
विद्युद्भिरिव नीलाभ्रमावृणोन्मन्दरं गिरिम् ॥ २२ ॥

जैसे बिजलीके समूहमे नीले बादल घेर लिए जाते हैं, वैसे ही वृक्षादिकी रगडसे बार बार जलनेवाली आगसे मन्दर पर्वत घिर गया ॥ २२ ॥

ददाह कुञ्जरांश्चैव सिंहांश्चैव विनिःसृतान्।
विगतासूनि सर्वाणि सत्त्वानि विविधानि च ॥ २३ ॥

(रगडसे जली हुई वह आग पर्वत परके) सब निकले हुए हाथी और सिंहोंको जलाने-लगी, और उस आगके कारण दूसरे भी नाना प्रकारके सभी जन्तु प्राणोंसे वियुक्त होने लगे ॥ २३ ॥

तमग्निममरश्रेष्ठः प्रदहन्तं ततस्ततः।
वारिणा मेघजेनेन्द्रः शमयामास सर्वतः ॥ २४ ॥

अनन्तर देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रने बादलसे निकले जलसे चारों और फैले और जलानेवाले अग्निको चारों ओरसे बुझाया ॥ २४ ॥

ततो नानाविधास्तत्र सुस्रुवुः सागराम्भसि।
महाद्रुमाणां निर्यासा बहवश्चौषधीरसाः ॥ २५ ॥

तब नानाविध महा वृक्षोंका नाना तरहका दूध और पौधोंका अपरिमित रस समुद्रजलमें चूने लगा ॥ २५ ॥

तेषाममृतवीर्याणां रसानां पयसैव च।
अमरत्वं सुरा जग्मुः काञ्चनस्य च निःस्रवात् ॥ २६ ॥

उस अमृतके रसके समान प्रभावशाली जल और सुवर्णमय पर्वतसे चूनेवाले रससे देवता-ओंने अमरता प्राप्त की ॥ २६ ॥

अथ तस्य समुद्रस्य तज्जातमुदकं पयः।
रसोत्तमैर्विमिश्रं च ततः क्षीरादभूद्घृतम् ॥ २७ ॥

जब समुद्रका जल उस सुन्दर रसोंसे मिलकर दूध बन गया, तब उस दूधसे घृत बनने लगा ॥ २७ ॥

ततो ब्रह्माणमासीनं देवा वरदमब्रुवन् ।
श्रान्ताः स्म सुभृशं ब्रह्मन्नोद्भवत्यमृतं च तत् ॥ २८ ॥

अनंतर देवगण बैठे हुए वर देनेवाले ब्रह्मासे बोले, " हे ब्रह्मन् ! हम सब बहुत थक गये हैं । पर अभीतक अमृत नहीं निकला ॥ २८ ॥

ऋते नारायणं देवं दैत्या नागोत्तमास्तथा ।
चिरारब्धमिदं चापि सागरस्यापि मन्थनम् ॥ २९ ॥

भगवान् नारायणको छोडकर दैत्य, श्रेष्ठ नाग भी थक गए हैं तथा सागरके मंथनके कार्यको प्रारम्भ करके भी बहुत समय बीत गया है ॥ २९ ॥

ततो नारायणं देवं ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ।
विधत्स्वैषां बलं विष्णो भवानत्र परायणम् ॥ ३० ॥

(देवताओंके इतना कहनेपर) ब्रह्मा देवाधिदेव नारायणसे यह वचन बोले " हे विष्णो ! तुम इन सुर और असुरोंको बल दो, इस विषयमें तुम ही एकमात्र आश्रयस्थान हो । " ॥ ३० ॥

विष्णुरुवाच

बलं ददामि सर्वेषां कर्मैतद्ये समास्थिताः ।
क्षोभ्यतां कलशः सर्वैर्मन्दरः परिवर्त्यताम् ॥ ३१ ॥

विष्णु बोले– " जो लोग समुद्र–मंथनके कार्यमें रत हैं, मैं उन सबोंको बल देता हूं, तुम सब समुद्ररूपी कलसेको हिलोडो और मन्दर पर्वतको घुमाते रहो । " ॥ ३१ ॥

सूत उवाच

नारायणवचः श्रुत्वा बलिनस्ते महोदधेः ।
तत्पयः सहिता भूयश्चक्रिरे भृशमाकुलम् ॥ ३२ ॥

सूत बोले– कि नारायणका वचन सुन कर देवता और दानव बल पाकरके और मिल जुलके फिर उस समुद्र--जलको बडे वेगसे मथने लगे ॥ ३२ ॥

ततः शतसहस्रांशुः समान इव सागरात् ।
प्रसन्नभाः समुत्पन्नः सोमः शीतांशुरुज्ज्वलः ॥ ३३ ॥

इससे समुद्रसे सैंकडों और हजारों किरणोंके समान तेजस्वी और सुहावने शीतल प्रकाश वाले सोम (चन्द्रमा) उत्पन्न हुए; ॥ ३३ ॥

श्रीरनन्तरमुत्पन्ना घृतात्पाण्डुरवासिनी ।
सुरा देवी समुत्पन्ना तुरगः पाण्डुरस्तथा ॥ ३४ ॥

इसके बाद उस घृतरूपी जलसे श्वेत वस्त्र पहनी हुई लक्ष्मी और तदनन्तर सुरा देवी उत्पन्न हुई और तत्पश्चात् उसी घृतसे सफेद घोडा प्रकट हुआ ॥ ३४ ॥

कौस्तुभश्च मणिर्दिव्य उत्पन्नोऽमृतसंभवः ।
मरीचिविकचः श्रीमान्नारायणउरोगतः ॥ ३५ ॥

नारायणकी छातीमें स्थित तेज प्रकाशको धारण करनेवाली, शोभाकारी दिव्य कौस्तुभ नामक मणि भी उसी अमृतरूपी जलसे उत्पन्न हुई ॥ ३५ ॥

श्रीः सुरा चैव सोमश्च तुरगश्च मनोजवः ।
यतो देवास्ततो जग्मुरादित्यपथमाश्रिताः ॥ ३६ ॥

लक्ष्मी, सुरा, सोम और मनके समान वेगवान् घोडा यह सब आदित्य-पथके अनुयायी होकर जहां देवगण थे, वहां चले गये ॥ ३६ ॥

धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत ।
श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति ॥ ३७ ॥

इसके बाद शरीरधारी धन्वन्तरी एक सफेद कमण्डलु लेकर उत्पन्न हुए जिसमें अमृत भरा हुआ था ॥ ३७ ॥

एतदत्यद्भुतं दृष्ट्वा दानवानां समुत्थितः ।
अमृतार्थे महान्नादो ममेदमिति जल्पताम् ॥ ३८ ॥

यह आश्चर्य लीला देखकर उस अमृतके लिए " यह हमारा है यह हमारा है " कहते हुए दानवोंका बडा कोलाहल मचा ॥ ३८ ॥

ततो नारायणो मायामास्थितो मोहिनीं प्रभुः ।
स्त्रीरूपमद्भुतं कृत्वा दानवानभिसंश्रितः ॥ ३९ ॥

अनन्तर प्रभु नारायण मोहिनी माया आश्रय करके अपूर्व स्त्रीकी मूर्ति धारण करके दानवोंके निकट जा पहुंचे ॥ ३९ ॥

ततस्तदमृतं तस्यै ददुस्ते मूढचेतसः ।
स्त्रियै दानवदैतेयाः सर्वे तद्गतमानसाः ॥ ४० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥ (९१९)

तब उन मूर्ख बुद्धिवाले सब दैत्योंने उस अपूर्व रूपवती युवतीको देख करके उस रूपमें मग्न होकर और जडवत् बनकर उस स्त्रीको अमृत दे दिया ॥ ४० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सोलहवां अध्याय समाप्त ॥ ९१९ ॥

: १७ :

सूत उवाच

अथावरणमुख्यानि नानाप्रहरणानि च ।
प्रगृह्याभ्यद्रवन्देवान्सहिता दैत्यदानवाः ॥ १ ॥

सूत बोले– कि अनन्तर दानव वृन्द एकत्र होकरके तनुत्राण (जिरह बख्तर) आदि पहिन कर तथा नाना अस्त्रादि लेकर देवताओं पर चढ दौडे ॥ १ ॥

ततस्तदमृतं देवो विष्णुरादाय वीर्यवान् ।
जहार दानवेन्द्रेभ्यो नरेण सहितः प्रभुः ॥ २ ॥

इधर नरके साथ मिलकर वीर्यवान् देव प्रभु नारायण दानवोंसे अमृत पाकर उसे हर लाये ॥ २ ॥

ततो देवगणाः सर्वे पपुस्तदमृतं तदा ।
विष्णोः सकाशात्संप्राप्य संभ्रमे तुमुले सति ॥ ३ ॥

तब उस भारी लडाईके शुरू होनेपर देवता लोग भी नारायणसे उस अमृतको पाकर पीने लगे ॥ ३ ॥

ततः पिबत्सु तत्कालं देवेष्वमृतमीप्सितम् ।
राहुर्विबुधरूपेण दानवः प्रापिबत्तदा ॥ ४ ॥

देवोंके अपने अभिलषित अमृत पीते समय राहु (नामक दैत्य) देवताका स्वरूप धारण करके वहां आकर अमृत पीने लगा ॥ ४ ॥

तस्य कण्ठमनुप्राप्ते दानवस्यामृते तदा
आख्यातं चन्द्रसूर्याभ्यां सुराणां हितकाम्यया ॥ ५ ॥

अमृत उस दानव राहुके कण्ठतक पहुंचने पाया ही था, कि चन्द्र और सूर्यने देवताओंके हित करनेके लिये वह बात प्रकट कर दी ॥ ५ ॥

ततो भगवता तस्य शिरश्छिन्नमलंकृतम् ।
चक्रायुधेन चक्रेण पिबतोऽमृतमोजसा ॥ ६ ॥

(राहुका असुरभाव प्रकट होने पर) चक्र ही जिनका आयुध है, ऐसे भगवान् विष्णुने चक्रसे उसी क्षण बलपूर्वक उस अमृतको पीनेवाले राहुके सुशोभित शिरको धडसे अलग कर दिया ॥ ६ ॥

तच्छैलशृङ्गप्रतिमं दानवस्य शिरो महत्।
चक्रेणोत्कृत्तमपतच्चालयद्वसुधातलम् ॥ ७ ॥

चक्रसे अलग किया हुआ दैत्यका पहाडकी चोटीके सदृश वह महान्—मस्तक भूमिको कंपाता हुआ गिर गया ॥ ७ ॥

ततो वैरविनिर्बन्धः कृतो राहुमुखेन वै।
शाश्वतश्चन्द्रसूर्याभ्यां ग्रसत्यद्यापि चैव तौ ॥ ८ ॥

इसी समयसे राहुके मुखसे चन्द्र और सूर्यकी स्थायी शत्रुता बन गई, इसीसे राहु आज भी चन्द्र और सूर्यको ग्रस लेता है ॥ ८ ॥

विहाय भगवांश्चापि स्त्रीरूपमतुलं हरिः।
नानाप्रहरणैर्भीमैर्दानवान्समकम्पयत् ॥ ९ ॥

तब भगवान् विष्णु भी सुन्दरी स्त्रीका अनुपम रूप छोड कर भांति भांतिके भयावने अस्त्रोंसे दानवोंको कम्पित करने लगे ॥ ९ ॥

ततः प्रवृत्तः संग्रामः समीपे लवणाम्भसः।
सुराणामसुराणां च सर्वघोरतरो महान् ॥ १० ॥

इसके अनन्तर खारे जलवाले समुद्रतट पर देवदानवोंमें अति घोर और महान् युद्ध शुरू हुआ ॥ १० ॥

प्रासाः सुविपुलास्तीक्ष्णा न्यपतन्त सहस्रशः।
तोमराश्च सुतीक्ष्णाग्राः शस्त्राणि विविधानि च ॥ ११ ॥

सहस्रों तेज भाले और नोकदार तोमर तथा भांति भांतिके अस्... ने लगे ॥ ११ ॥

ततोऽसुराश्चक्रभिन्ना वमन्तो रुधिरं बहु
असिशक्तिगदारुग्णा निपेतुर्धरणीतले ॥ १२ ॥

तब चक्रसे काटे जाकर रक्त उगलते हुए दैत्यगण तलवार, शक्ति और गदासे घायल होकर धरती पर लोटने लगे ॥ १२ ॥

छिन्नानि पट्टिशैश्चापि शिरांसि युधि दारुणे।
तप्तकाञ्चनजालानि निपेतुरनिशं तदा ॥ १३ ॥

और उस भयंकर युद्धमें असुरोंके शुद्ध सुवर्ण जालोंसे सुशोभित सिर भयंकर पट्टिशोंसे शरीरोंसे अलग होकर गिरने लगे ॥ १३ ॥

रुधिरेणावलिप्ताङ्गा निहताश्च महासुराः।
अद्रीणामिव कूटानि धातुरक्तानि शेरते ॥ १४ ॥

महावीर असुरवृन्द रक्तसे लाल होकर और मारे जाकर धातुओंसे रंगे पर्वतशृङ्गके समान पृथ्वी पर गिरने लगे ॥ १४ ॥

हाहाकारः समभवत्तत्र तत्र सहस्रशः ।
अन्योन्यं छिन्दतां शस्त्रैरादित्ये लोहितायति ॥ १५ ॥
सूर्यके लाल होनेपर उस रणभूमिमें आपसमें हजारों शस्त्रोंसे कटते और काटते हुए सुरासुरोंमें हाहाकार मच उठा ॥ १५ ॥

परिघैश्चायसैः पीतैः संनिकर्षे च मुष्टिभिः ।
निघ्नतां समरेऽन्योन्यं शब्दो दिवमिवास्पृशत् ॥ १६ ॥
रणभूमिमें दूर स्थित शत्रुको लोहेके परिघ अस्त्रोंसे और निकट आए हुओंको घूसोंसे एक दूसरेको काटते और मारते हुए सुरासुरोंका कोलाहल आकाश तक पहुंचने लगा ॥ १६ ॥

छिन्धि भिन्धि प्रधावध्वं पातयाभिसरेति च ।
व्यश्रूयन्त महाघोराः शब्दास्तत्र समन्ततः ॥ १७ ॥
" काटो, चूर करो, दौडो, गिरादो, आगे बढो " आदि महा भयंकर वहां शब्द चारों ओरसे सुनाई देने लगे ॥ १७ ॥

एवं सुतुमुले युद्धे वर्तमाने भयावहे ।
नरनारायणौ देवौ समाजग्मतुराहवम् ॥ १८ ॥
इस प्रकार इस महा भयंकर और घोर संग्रामके छिड जाने पर नर और नारायण देव रणभूमिमें आ पहुंचे ॥ १८ ॥

तत्र दिव्यं धनुर्दृष्ट्वा नरस्य भगवानपि ।
चिन्तयामास वै चक्रं विष्णुर्दानवसूदनम् ॥ १९ ॥
भगवान् नारायणने भी नरदेवका सुन्दर और दिव्य धनुष देखकर विष्णुने अपने दैत्यनाशी चक्रको स्मरण किया; ॥ १९ ॥

ततोऽम्बराच्चिन्तितमात्रमागतं महाप्रभं चक्रममित्रतापनम् ।
विभावसोस्तुल्यमकुण्ठमण्डलं सुदर्शनं भीममजय्यमुत्तमम् ॥ २० ॥
इस स्मरण करने मात्रसे ही महा प्रभा--कांतिवाला, शत्रुओंको संताप देनेवाला, सूर्यके समान तेजस्वी, कहीं पर भी कुण्ठित न होनेवाला, देखनेमें उत्तम अथवा सुदर्शन नामका, भयंकर, जीते न जानेवाला अत्युत्तम चक्र आकाश अर्थात् स्वर्गसे उतर आया ॥ २० ॥

तदागतं ज्वलितहुताशनप्रभं भयंकरं करिकरबाहुरच्युतः ।
मुमोच वै चपलमुदग्रवेगवन्महाप्रभं परनगरावदारणम् ॥ २१ ॥
हाथीके सूंडके समान विशाल बाहुओंवाले अच्युत अर्थात् भगवान् नारायणने आकाशसे आये हुए उस जलती हुई आगके समान प्रभावाले, भयंकर, बिजलीके समान भयानक, वेगवाले, अत्यधिक प्रभावाले और शत्रुके नगरोंको नष्ट भ्रष्ट करनेवाले चक्रको राक्षसों पर छोडा ॥ २१ ॥

तदन्तकज्वलनसमानवर्चसं पुनः पुनर्न्यपतत वेगवत्तदा।
विदारयद्दितिदनुजान्सहस्रशः करेरितं पुरुषवरेण संयुगे ॥ २२ ॥

तत्र युद्धमें पुरुष श्रेष्ठ नारायणके हाथसे चलाये जानेपर प्रलयकालके तेजस्वी अग्निके समान वह सुदर्शन चक्र सहस्रों दैत्य—दानवोंको बडे वेगसे काटता हुआ उन पर बार बार गिरने लगा ॥ २२ ॥

दहत्क्वचिज्ज्वलन इवावलेलिहत्प्रसह्य तानसुरगणान्न्यकृन्तत।
प्रवेरितं वियति मुहुः क्षितौ तदा पपौ रणे रुधिरमथो पिशाचवत् ॥ २३ ॥

कहीं कहीं तो वह चक्र जलती हुई अग्निके समान उन असुरोंको चाटने लगा और कहीं कहीं असुरोंको बलपूर्वक काटने लगा और पिशाचकी भांति रणभूमि तथा आकाशमें हर घडी घूमता घामता रक्त पीने लगा ॥ २३ ॥

अथासुरा गिरिभिरदीनचेतसो मुहुर्मुहुः सुरगणमर्दयंस्तदा।
महाबला विगलितमेघवर्चसः सहस्रशो गगनमभिप्रपद्य ह ॥ २४ ॥

विना जलके बादलोंके सदृश शोभायुक्त, महाबली, तथा साहससे पूर्ण चित्तवाले सहस्रों असुर आकाशमें चढकर बार बार पर्वतोंको गिराकर देवताओंको नष्ट करने लगे ॥ २४ ॥

अथाम्बराद्भयजननाः प्रपेदिरे सपादपा बहुविधमेघरूपिणः।
महाद्रयः प्रविगलिताग्रसानवः परस्परं द्रुतमभिहत्य सस्वनाः ॥ २५ ॥

अनेकविध मेघोंके रूपोंको धारण करनेवाले, पेडोंसे युक्त तथा टूटे हुए अग्रभागवाली चोटियोंसे युक्त बडे बडे पहाड आपसमें शीघ्रतासे टकराकर भयको उत्पन्न करनेवाले शब्द करते हुए आकाशसे धरती पर गिरते थे ॥ २५ ॥

ततो मही प्रविचलिता सकानना महाद्रिपाताभिहता समन्ततः।
परस्परं भृशमभिगर्जतां मुहू रणाजिरे भृशमभिसंप्रवर्तिते ॥ २६ ॥

एक दूसरेको ललकारते हुए देव और असुरोंमें घोर भयानक लडाई होने पर रणभूमिके चारों ओर बडे बडे पर्वतोंके गिरनेसे वनसहित धरती चोट खाकर कांपने लगी ॥ २६ ॥

नरस्ततो वरकनकाग्रभूषणैर्महेषुभिर्गगनपथं समावृणोत्।
विदारयन्गिरिशिखराणि पत्रिभिर्महाभयेऽसुरगणविग्रहे तदा ॥ २७ ॥

तत्र असुरोंके साथ उस घोर भयोत्पादक लडाईमें नरदेवने सुवर्णसे मढे हुए अग्रभागवाले श्रेष्ठ बाणोंसे पर्वतोंकी चोटी काट काटकर उनसे आकाशतल छा दिया ॥ २७ ॥

ततो महीं लवणजलं च सागरं महासुराः प्रविविशुरर्दिताः सुरैः ।
वियद्गतं ज्वलितहुताशनप्रभं सुदर्शनं परिकुपितं निशाम्य च ॥ २८ ॥

तब देवताओंसे मारे काटे जाकर और आकाशमें घूमते हुए प्रज्ज्वलित अग्निके समान तेजस्वी सुदर्शनको क्रोधित हुआ हुआ देखकर दैत्यगण पृथ्वीके भीतर और खारे जलवाले समुद्रमें जाकर छिप गए ॥ २८ ॥

ततः सुरैर्विजयमवाप्य मन्दरः स्वमेव देशं गमितः सुपूजितः ।
विनाद्य खं दिवमपि चैव सर्वशस्ततो गताः सलिलधरा यथागतम् ॥ २९ ॥

तब देवताओंने जय पाकर मन्दरपर्वतका यथोचित सत्कार करके उसको उसके स्थानमें भेज दिया । सम्पूर्ण बादल भी चारों ओरसे आकाश और द्युलोकको गुंजाते हुए वहांसे अपने अपने स्थानोंको चले गए ॥ २९ ॥

ततोऽमृतं सुनिहितमेव चक्रिरे सुराः परां मुदमभिगम्य पुष्कलाम् ।
ददौ च तं निधिममृतस्य रक्षितुं किरीटिने बलभिदथामरैः सह ॥ ३० ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥ ९४९ ॥

पश्चात् देवता लोगोंने अत्यधिक परम आनन्द प्राप्त करके अमृतको अपने पास रख लिया । फिर इन्द्रने देवताओंके साथ मिलकर रक्षाके लिये उस अमृतको नरदेवके हाथमें अमृत-भाण्डको सौंप दिया ॥ ३० ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें सत्रहवां अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥ ९४२ ॥

: १८ :

सूत उवाच

एतत्ते सर्वमाख्यातममृतं मथितं यथा ।
यत्र सोऽश्वः समुत्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः ॥ १ ॥

सूत बोले– हे शौनक ! जिस प्रकार अति बल–शाली तथा शोभायुक्त अश्वराज उच्चैःश्रवाकी उत्पत्ति हुई थी, और जिस प्रकार अमृतका मंथन किया था, वह सब कथा मैंने आपसे कह दी है ॥ १ ॥

यं निशाम्य तदा कद्रूर्विनतामिदमब्रवीत् ।
उच्चैःश्रवा नु किंवर्णो भद्रे जानीहि माचिरम् ॥ २ ॥

"हे भद्रे ! जल्दी कहो तो सही, कि उस उच्चैःश्रवाको देखकर कद्रू विनतासे यह बोली, यह उच्चैःश्रवा किस रंगका है ?" ॥ २ ॥

विनतोवाच

श्वेत एवाश्वराजोऽयं किं वा त्वं मन्यसे शुभे।
ब्रूहि वर्णं त्वमप्यस्य ततोऽत्र विपणावहे ॥ ३ ॥

विनता बोली– "यह उच्चैःश्रवा तो सफेद रङ्गका ही है। अथवा हे कल्याणि! तुम क्या समझती हो? तुम भी इसका वर्ण बताओ तो हम दोनों इस बारेमें बाजी लगाएं" ॥ ३ ॥

कद्रूरुवाच

कृष्णवालमहं मन्ये हयमेनं शुचिस्मिते।
एहि सार्धं मया दीव्य दासीभावाय भामिनि ॥ ४ ॥

कद्रू बोली, "हे पवित्र मुस्करानेवाली! मैं तो इस घोडेको काले रंगकी पूंछवाला मानती हूँ। हे भामिनी! आओ, मेरे साथ दासीभावके लिए बाजी लगाओ अर्थात् जो हारेगी, वह सदा दूसरीकी दासी बनी रहेगी" ॥ ४ ॥

सूत उवाच

एवं ते समयं कृत्वा दासीभावाय वै मिथः।
जग्मतुः स्वगृहानेव श्वो द्रक्ष्याव इति स्म ह ॥ ५ ॥

सूत बोले, कि इस प्रकार कद्रू और विनता आपसमें दासीपनकी बाजी लगा करके यह कह कर, कि "कल घोडा देख लिया जायगा" अपने अपने घरोंको चली गईं ॥ ५ ॥

ततः पुत्रसहस्रं तु कद्रूर्जिह्मं चिकीर्षती।
आज्ञापयामास तदा वाला भूत्वाञ्जनप्रभाः ॥ ६ ॥
आविशध्वं हयं क्षिप्रं दासी न स्यामहं यथा।
तद्वाक्यं नान्वपद्यन्त ताञ्शशाप भुजङ्गमान् ॥ ७ ॥

तब कद्रूने छल करनेकी इच्छासे अपने सहस्र पुत्रोंको आज्ञा दी "पुत्रो! तुम अंजनकीसी कांतिवाले काले लोम बनकर उच्चैःश्रवाको ढंक लो, कि जिससे मुझको दासी न होना पडे।" कद्रूके ऐसा कहनेपर, जिन सर्पोंने उसकी बात न मानी, उनको उसने यह शाप दिया ॥ ६–७ ॥

सर्पसत्रे वर्तमाने पावको वः प्रधक्ष्यति।
जनमेजयस्य राजर्षेः पाण्डवेयस्य धीमतः ॥ ८ ॥

कि पाण्डवपुत्र बुद्धिमान् राजर्षि जनमेजयके सर्पयज्ञके समय अग्निदेवता तुमको जलावेंगे ॥ ८ ॥

शापमेनं तु शुश्राव स्वयमेव पितामहः ।
अतिक्रूरं समुद्दिष्टं कद्र्वा दैवादतीव हि ॥ ९ ॥

कद्रूने क्रोधित होकर दैवसंयोगसे सर्पोंको जैसा कठोर शाप दिया था, उसे स्वयं पितामह ब्रह्माजीने सुना ॥ ९ ॥

सार्धं देवगणैः सर्वैर्वाचं तामन्वमोदत ।
बहुत्वं प्रेक्ष्य सर्पाणां प्रजानां हितकाम्यया ॥ १० ॥

और सम्पूर्ण देवोंके सहित ब्रह्माने सांपोंकी संख्या बढते देखकर, प्रजाओंके हित करनेकी इच्छासे कद्रूकी इस बातका समर्थन किया ॥ १० ॥

तिग्मवीर्यविषा ह्येते दन्दशूका महाबलाः ।
तेषां तीक्ष्णविषत्वाद्धि प्रजानां च हिताय वै ।
प्रादाद्विषहरणीं विद्यां काश्यपाय महात्मने ॥ ११ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥ ९६० ॥

ये साप भयंकर विषवाले, तीक्ष्ण दाढवाले महाबलवान् थे उनका विष तीक्ष्ण था अतः उनके अत्यन्त जहरीले होनेके कारण प्रजाओंके हितके लिए ब्रह्माने इस बातका समर्थन किया और महात्मा कश्यपको विष हरनेवाली विद्या प्रदान की ॥ ११ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें अट्ठारहवां अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥ ॥ ९६० ॥

: १९ :

सूत उवाच

ततो रजन्यां व्युष्टायां प्रभात उदिते रवौ ।
कद्रूश्च विनता चैव भगिन्यौ ते तपोधन ॥ १ ॥
अमर्षिते सुसंरब्धे दास्ये कृतपणे तदा ।
जग्मतुस्तुरगं द्रष्टुमुच्चैःश्रवसमन्तिकात् ॥ २ ॥

सूत बोले– कि हे तपोधन ! दूसरे दिन रातके खतम होनेपर सवेरे सूर्य उगते ही, कद्रू और विनता दोनों बहिनें दासीपनकी बाजी लगाये हुईं, हिंसा और क्रोधसे भरी हुई घोडेको देखनेके लिए उच्चैःश्रवाके पास गईं ॥ १-२ ॥

ददृशाते तदा तत्र समुद्रं निधिमम्भसाम् ।
तिमिंगिलझषाकीर्णं मकरैरावृतं तथा ॥ ३ ॥

कुछ दूर चलकर उन्होंने पासहीमें जलके कोप महासमुद्रको देखा। जो घडियाल, तिमिंगल, मछली और मगरोंसे घिरा हुआ है ॥ ३ ॥

सत्त्वैश्च बहुसाहस्त्रैर्नानारूपैः समावृतम्।
उग्रैर्नित्यमनाधृष्यं कूर्मग्राहसमाकुलम् ॥ ४ ॥

तथा भांति भांतिके रूपवाले तथा भयंकर सहस्रों जीवोंसे सदा भरा हुआ तथा जो कछुए तथा मगरोंसे भरे हुए होनेके कारण पार जा सकनेके अयोग्य है ॥ ४ ॥

आकरं सर्वरत्नानामालयं वरुणस्य च।
नागानामालयं रम्यमुत्तमं सरितां पतिम् ॥ ५ ॥

वह नदियोंका राजा समुद्र सर्व रत्नोंकी खान, वरुणका घर, सर्पोंका सुन्दर और श्रेष्ठ आगार था ॥ ५ ॥

पातालज्वलनावासमसुराणां च बन्धनम्।
भयंकरं च सत्त्वानां पयसां निधिमर्णवम् ॥ ६ ॥

वह समुद्र पातालकी अग्नि अर्थात् वाडवाग्निका आधार, असुरोंका बंधन, स्थलचर जीवोंके लिए भयंकर, जलका अक्षय भाण्डार है ॥ ६ ॥

शुभं दिव्यममर्त्यानाममृतस्याकरं परम्।
अप्रमेयमचिन्त्यं च सुपुण्यजलमद्भुतम् ॥ ७ ॥

वह समुद्र शुभ देवभोगयोग्य अमृतका मंगलमय श्रेष्ठ अलौकिक आधार, माप रहित, अत एव अचिन्त्य, उत्तम जलसे युक्त तथा अद्भुत है ॥ ७ ॥

घोरं जलचरारावरौद्रं भैरवनिस्वनम्।
गम्भीरावर्तकलिलं सर्वभूतभयंकरम् ॥ ८ ॥

जलचरोंके घोर शब्दसे भयंकर और भयानक शब्दोंसे युक्त, भारी भारी भंवरवाली लहरोंसे भरा हुआ, सर्व भूतोंके लिए भयदायी है ॥ ८ ॥

वेलादोलानिलचलं क्षोभोद्वेगसमुत्थितम्।
वीचीहस्तैः प्रचलितैर्नृत्यन्तमिव सर्वशः ॥ ९ ॥

और तट पर प्रबल वेगसे बहती हुई हवासे चञ्चल हुआ हुआ वह समुद्र चञ्चल लहररूपी हाथ उठाकर मानों चारों ओर नाच रहा है ॥ ९ ॥

चन्द्रवृद्धिक्षयवशादुद्वृत्तोर्मिदुरासदम्।
पाञ्चजन्यस्य जननं रत्नाकरमनुत्तमम् ॥ १० ॥

जो सुन्दर रत्नाकर चन्द्रके घटने और बढनेके कारण अति ऊंची लहरोंसे उछल उठनेके कारण अति भयानक है, जो पांचजन्य शङ्खकी उत्पत्तिका स्थान है ॥ १० ॥

गां विन्दता भगवता गोविन्देनामितौजसा।
वराहरूपिणा चान्तर्विक्षोभितजलाविलम् ॥ ११ ॥

भूमिको ढूंढ निकालनेकी इच्छासे वराह रूपधारी अमित तेजस्वी भगवान् नारायणने जिसका जल हिलोडा और गंदला किया है ॥ ११ ॥

ब्रह्मर्षिणा च तपता वर्षाणां शतमत्रिणा ।
अनासादितगाधं च पातालतलमव्ययम् ॥ १२ ॥

सैंकडों वर्षोंतक तप करने पर भी ब्रह्मर्षि अत्रि भी जिसके अथाह जलके पाताल–तलके तलतक पहुंच नहीं सके थे ऐसा अगाध वह समुद्र है ॥ १२ ॥

अध्यात्मयोगनिद्रां च पद्मनाभस्य सेवतः ।
युगादिकालशयनं विष्णोरमिततेजसः ॥ १३ ॥

अपरिमित तेजोपूर्ण पद्मनाभ विष्णु प्रलयकालमें अध्यात्मयोगकी निद्रामें जहां सोते हैं ॥ १३ ॥

वडवामुखदीप्ताग्नेस्तोयहव्यप्रदं शुभम् ।
अगाधपारं विस्तीर्णमप्रमेयं सरित्पतिम् ॥ १४ ॥

वडवामुखसे प्रज्ज्वलित अग्निमें जलरूपी हव्यकी आहुति चढानेवाला तथा शुभ है; अपरिमित सीमावाला विस्तीर्ण और अप्रमेय जो नदियोंका राजा समुद्र है ॥ १४ ॥

महानदीभिर्बह्वीभिः स्पर्धयेव सहस्रशः ।
अभिसार्यमाणमनिशं ददृशाते महार्णवम् ॥ १५ ॥

सहस्रों और बहुतसी महानदियां जिस समुद्रके समीप नायिकाकी भांति स्पर्धापूर्वक सदा दौडती हुई दिखाई देती हैं ॥ १५ ॥

गम्भीरं तिमिमकरोग्रसंकुलं तं गर्जन्तं जलचररावरौद्रनादैः ।
विस्तीर्णं ददृशतुरम्बरप्रकाशं तेऽगाधं निधिमुरुमम्भसामनन्तम् ॥ १६ ॥

अति गहरा, तिमि–मकरादि उग्र जीवोंसे भरपूर, जलचरोंके घोर शब्दसे गूंजता हुआ, आकाशके समान फैला हुआ, अथाह अपार जलसागर कद्रू और विनताको दीख पडा ॥ १६ ॥

इत्येवं झषमकरोर्मिसंकुलं तं गम्भीरं विकसितमम्बरप्रकाशम् ।
पातालज्वलनशिखाविदीपितं तं पश्यन्त्यौ द्रुतमभिपेततुस्तदानीम् ॥ १७ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥ ९७७ ॥

इस प्रकार मछली और मगरसे भरपूर, अगाध, आकाशके प्रकाशके समान विकसित तथा पातालकी अग्निकी ज्वालासे प्रकाशित उस सागरको देखती हुई वे दोनों उस समय शीघ्रही उसके पास पहुंची ॥ १७ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें उन्नीसवां अध्याय समाप्त ॥ १९ ॥ ९७७ ॥

: २० :

सूत उवाच

तं समुद्रमतिक्रम्य कद्रूर्विनतया सह।
न्यपतत्तुरगाभ्याशे नाचिरादिव शीघ्रगा ॥ १ ॥

सूत बोले– कि शीघ्रतासे चलनेवाली कद्रू विनताके साथ महासमुद्रके पार उतरकर शीघ्र ही उच्चैःश्रवाके समीप जा पहुंची ॥ १ ॥

निशाम्य च बहून्वालान्कृष्णान्पुच्छं समाश्रितान्।
विनतां विषण्णवदनां कद्रूर्दास्ये न्ययोजयत् ॥ २ ॥

उस (घोडे) की पूछमें बहुतसे काले बालोंको लगा हुआ देखकर उदास मुखवाली विनताको कद्रूने अपने दासीके कार्यमें नियुक्त किया ॥ २ ॥

ततः सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता।
अभवद्दुःखसंतप्ता दासीभावं समास्थिता ॥ ३ ॥

तब उस बाजीमें हारकर दासीके कार्यमें लगी हुई वह विनता दुःखसे बहुत संतप्त हुई ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे चैव गरुडः काल आगते।
विना मात्रा महातेजा विदार्याण्डमजायत ॥ ४ ॥

इसी बीचमें बडे प्रभावशाली गरुड कालपूर्ण होने पर माताकी सहायताके बिना ही स्वयं अण्डेको फोडकर निकल आया ॥ ४ ॥

अग्निराशिरिवोद्भासन्समिद्धोऽतिभयंकरः।
प्रवृद्धः सहसा पक्षी महाकायो नभोगतः ॥ ५ ॥

जलती हुई अग्निके समान दीखते हुए तेजस्वी अति भयंकर वृद्धिको प्राप्त हुआ तथा महान् शरीरवाला यह पक्षी अचानक आकाशमें उड गया ॥ ५ ॥

तं दृष्ट्वा शरणं जग्मुः प्रजाः सर्वा विभावसुम्।
प्रणिपत्याब्रुवंश्चैनमासीनं विश्वरूपिणम् ॥ ६ ॥

यह देखकर सभी प्रजाएं सुखसे बैठे हुए विश्वरूपी अग्निदेवकी शरणमें गए और उनको प्रणाम कर बोले ॥ ६ ॥

अग्ने मा त्वं प्रवर्धिष्ठाः कच्चिन्नो न दिधक्षसि।
असौ हि राशिः सुमहान्समिद्धस्तव सर्पति ॥ ७ ॥

"हे अग्ने! तुम अब और अधिक न बढो; क्या तुम हमें जलाना तो नहीं चाहते? वह देखो, समिद्ध हुए तुम्हारे ये तेज–समूह बढे चले आ रहे हैं" ॥ ७ ॥

अग्निरुवाच

नैतदेवं यथा यूयं मन्यध्वमसुरार्दनाः ।
गरुडो बलवानेष मम तुल्यः स्वतेजसा ॥ ८ ॥

अग्निदेव बोले- " हे दैत्यनाशी देवगण ! तुम जो मानते हो वह ठीक नहीं है । अपने तेजसे मेरे सदृश यह गरुड है " ॥ ८ ॥

सूत उवाच

एवमुक्तास्ततो गत्वा गरुडं वाग्भिरस्तुवन् ।
अदूरादभ्युपेत्यैनं देवाः सर्षिगणास्तदा ॥ ९ ॥

सूत बोले- इस प्रकार कहे जाने पर वहांसे चलकर देवगण ऋषियोंके साथ मिलकर दूरसे आकर गरुडकी स्तुति करने लगे ॥ ९ ॥

त्वं ऋषिस्त्वं महाभागस्त्वं देवः पतगेश्वरः ।
त्वं प्रभुस्तपनप्रख्यस्त्वं नस्त्राणमनुत्तमम् ॥ १० ॥

हे पक्षीराज ! तुम ऋषि हो, तुम महा भाग्यवान् हो, तुम देवता हो, तुम पक्षियोंके स्वामी हो, तुम स्वामी हो, तुम ही तेज हो तथा तुम हम सबके उत्तम रक्षक हो ॥ १० ॥

बलोर्मिमान्साधुरदीनसत्त्वः समृद्धिमान्दुष्प्रसहस्त्वमेव ।
तपः श्रुतं सर्वमहीनकीर्ते अनागतं चोपगतं च सर्वम् ॥ ११ ॥

तुम बलके सागर हो, तुम साधु हो, तुम अक्षय बलवाले हो, तुम ऐश्वर्यवान् हो, तुम ही अजेय हो, हे पूर्ण कीर्तिमान् ! तुम तप हो, तुम श्रुत हो तथा तुम्हींसे आगत तथा अनागतकी उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

त्वमुत्तमः सर्वमिदं चराचरं गभस्तिभिर्भानुरिवावभाससे ।
समाक्षिपन्भानुमतः प्रभां मुहुस्त्वमन्तकः सर्वमिदं ध्रुवाध्रुवम् ॥ १२ ॥

तुम उत्तम हो, जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे सब प्रकाशित करता है उसी प्रकार तुम भी स्थावर जंगमात्मक संपूर्ण जगत्को प्रकाशित कर रहे हो, तुम ही सूर्यके प्रकाशको हर कर इस चराचर विश्वका क्षण क्षणमें लय कर रहे हो ॥ १२ ॥

दिवाकरः परिकुपितो यथा दहेत्प्रजास्तथा दहसि हुताशनप्रभ ।
भयङ्करः प्रलय इवाग्निरुत्थितो विनाशयन्युगपरिवर्तनान्तकृत् ॥ १३ ॥

हे अग्निके समान तेजवान् ! जिस प्रकार प्रलय कालमें सूर्यदेव क्रोधित होकर प्रजाओंको जलाता है, तुम भी उसी प्रकार उन प्रजाओंको जला रहे हो और युग बदलनेके कालमें सृष्टिनाशी प्रलयाग्नि जिस प्रकार भयानक रूपसे जलकर संहार करती है, तुम भी उसी प्रकार सृष्टिको नष्ट कर रहे हो ॥ १३ ॥

खगेश्वरं शरणमुपस्थिता वयं महौजसं वितिमिरमभ्रगोचरम्।
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरं परावरं वरदमजय्यविक्रमम् ॥ १४ ॥

महा पराक्रमी, अन्धकारका विनाशक, आकाशमें संचार करनेवाले, अत्यन्त बलशाली, पर अर्थात् स्थूलसे भी स्थूल और अवर अर्थात् सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, वर देनेवाले, अजेय पराक्रम-वाले पक्षियोंके राजा गरुडकी शरणमें हम आते हैं ॥ १४ ॥

एवं स्तुतः सुपर्णस्तु देवैः सर्षिगणैस्तदा।
तेजसः प्रतिसंहारमात्मनः स चकार ह ॥ १५ ॥

॥ इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥ ९९२ ॥

ऋषि और देवताओंके द्वारा इस प्रकार संतुत होकर गरुडने अपने तेजसमूहको समेट लिया ॥ १५ ॥

॥ महाभारतके आदिपर्वमें बीसवां अध्याय समाप्त ॥ २० ॥ ९९२ ॥

: २१ :

सूत उवाच

ततः कामगमः पक्षी महावीर्यो महाबलः।
मातुरन्तिकमागच्छत्परं तीरं महोदधेः ॥ १ ॥

सूत बोले– इसके बाद अति वीर्यशाली, महाबली, अपनी इच्छानुसार जानेवाला पक्षिराज समुद्रके दूसरे किनारे अपनी माताके समीप जा पहुंचा ॥ १ ॥

यत्र सा विनता तस्मिन्पणितेन पराजिता।
अतीव दुःखसंतप्ता दासीभावमुपागता ॥ २ ॥

जहां उसकी माता विनता बाजी हार कर और अति दुःखी होकर, दासी बनी हुई थीं ॥ २ ॥

ततः कदाचिद्विनतां प्रवणां पुत्रसंनिधौ।
काल आहूय वचनं कद्रूरिदमभाषत ॥ ३ ॥

एक दिन कद्रू गरुडके सामने ही नम्र हुई हुई विनताको बुला कर यह वचन बोली ॥ ३ ॥

नागानामालयं भद्रे सुरम्यं रमणीयकम्।
समुद्रकुक्षावेकान्ते तत्र मां विनते वह ॥ ४ ॥

" हे भद्रे! उस एकान्त समुद्रके भीतर नागोंका सुन्दर और आनन्ददायी घर है, हे विनता! वहां मुझको ले चल " ॥ ४ ॥

Acc. 22328

014

खगेश्वरं शरणमुपस्थिता वयं म
महाबलं गरुडमुपेत्य खेचरं

महा पराक्रमी, अन्धकारका विना